THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

श्री-जैन-आत्मानंदग्रन्थरत्नमाला-षट्सप्ततितमं रत्नम् (७६)

अञ्चलगच्छीय-श्रीमेरुतुङ्गाचार्यविरचितं

जैन-मेघदूतम् ।

श्रीशीलरत्नसूरिविरचितविवरणोपेतं

संपादकः संशोधकश्च

प्रवर्तकपादसेवाहेवाकश्चतुरविजयो मुनिः ।

प्रकाशयित्री

भावनगरस्था-श्रीजैनआत्मानन्दसभा ।

मुम्बय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रितम् ।

वीरसंवत्–२४५०, विक्रमसंवत्–१९८०

आत्मसंवत्–२८, इसवीसन–१९२४

मूल्यं रूप्यकद्वयम् (२)

Published by Vallabhadas Tribhuwandas Gandhi, Secretary
Jain Atmanand Sabha, Bhavnagar.

Printed by Ramchandra Yasu Shedge, at the Nirnaya-sagar
Press, 23 Kolbhat Lane, Bombay.

प्रस्तावना.

मेघदूतनां अनुकरणो

मनुष्यनो स्वभाव गतानुगतिक छे. जे कार्यथी माणसनी कीर्ति गवाय छे, ते कार्यनुं अनुकरण करवा अन्य माणसो आकर्षाय छे. जेम व्यवहारमां कोइ पण माणस जे व्यवसायथी अर्थलाभ, कीर्तिलाभ प्राप्त करी शके छे ते ज व्यवसायमां लक्ष्मीनिवास छे एम समजी बीजा माणसो ते रस्ते दोराय छे. परंतु अनुकरण ते अनुकरण ज रहे छे. पूरी प्रतिभा विना मूळ स्थान प्राप्त थतुं नथी. साहित्यमां पण आ प्रमाणे ज बन्युं छे. जे कविनी जे कृतिथी कीर्तिकथा फेलाइ, ते कृतिनुं अनुकरण अनेक कविओए भिन्न भिन्न रीते कर्युं छे. परंतु अत्यार सूधीमां एवो एक पण कवि नथी जन्म्यो के जे मूलकर्तानी समान के तेथी वधारे कीर्ति खाटी गयो होय. जेम जैन कविओमां श्री**सिद्धसेन** दिवाकरना **कल्याणमंदिर**थी अने श्री**मानतुंग**सूरिना **भक्तामर**स्तोत्रथी अनेक विद्वानो दिग्मूढ बनी तेमनुं अनुकरण करी कइक कविओए ते स्तोत्रनुं आदि या अंतनुं पाद लेइ पादपूर्तिओ रूपे अनेक स्तोत्रो रच्यां छे. तो पण ते स्तोत्रोनी प्रसन्नता, गंभीरता, कर्णप्रियता के सरलता न ज आवी शक्यां. आ ज प्रमाणे **सिंदूरप्रकर**ना अनुकरण रूपे अनेक कविओए तेवां प्रकरोने जन्म आप्यो पण ते सरळता, ते भाव, ते प्रसाद न ज लावी शक्या. आ ज प्रमाणे जैनेतर कविओमां **जयदेव**ना **गीतगोविंद**नी मोहनीमां मूढ बनी घणा कविओए विविध गीतो बनाव्यां, कवि **अमरु**ना शतक पाछळ तणाइ अनेक कविओए अनेक शतको बनाव्यां. परंतु मूळकर्ताओना स्थाननी योग्यता तेओ न बतावी शक्या. आ ज प्रमाणे कविकुलशिरोमणी **कालिदास**ना **मेघदूत**ना रसना, सौंदर्यना अनेक भोगीओ अनुकरण करी अनेक दूतकाव्योने पोतानी पाछळ मूकता गया छे.

कालिदासना **मेघदूत**ना जेवां संदेशकाव्यो संस्कृतसाहित्यसृष्टिमां अनेक कविओनी कृतिरूपे भिन्न भिन्न नामे आविर्भूत थयां छे. आधुनिक भाषाओने बाद करी केवळ संस्कृत भाषामां ज आवां काव्योनी संख्या गणवा जइए तो पचीसथी पण वधारे मळी आवे छे. परंतु ते सर्वे दूतकाव्योमां **मेघदूत**ना जेवी छटा आवी शकी नथी. अने तेथी ते सर्वे काव्यो **मेघदूत**ना जेवी कीर्ति, स्थान के दीर्घायु मेळवी शक्यां नथी. **मेघदूत**ना भक्तोना जेटली संख्या कोइ पण दूतकाव्यनी मळती नथी. आ **मेघदूत**ना अनुकरणमां सौथी प्रथम अनुकरण करनार जैनो छे. आम अनुकरणरूपे संस्कृत साहित्यमां जैन कविओद्वारा केटलांए संदेशकाव्यो जन्म पाम्यां छे. तेनुं उपलक दृष्टिए पण अवलोकन करवुं आवश्यक छे.

संदेशकाव्यकारतरीके जैन कविओ.

(१) **पार्श्वाभ्युदय**–**जिनसेना**चार्यकृत (२) **पवनदूत**–**वादिचंद्र**कृत (३) **जैनमेघदूत**–**मेरुतुंगा**चार्यकृत (४) **चंद्रदूत**–**जंबूकवि**कृत (५) **नेमिदूत**–**सांगणसुतविक्रम**कृत (६) **मनोदूत**–नामविनानुं (७) **मेघदूत**–मंत्री **विक्रम**कृत (८) **शीलदूत**–**चारित्रसुंदर**गणिकृत (९) **चेतोदूत**–नामविनानुं (१०) **मेघदूतसमस्यालेख**–**मेघविजयो**पाध्यायकृत (११) **इंदुदूत**–**विनयविजय**गणिकृत. आथी पण अधिक होवानो संभव छे. परंतु जाणवामां आव्यां नथी. आमांनां घणांखरां काव्यो प्रकट थयां छे तेमांनां जे मने मळी आव्यां छे तेमनो थोडो थोडो परिचय आपवो उचित धार्यो छे.

पार्श्वाभ्युदय.

आ बधां अनुकरणोमां प्रथम **पार्श्वाभ्युदय** छे. आ ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तोनुं एक खंडकाव्य छे. **जिनसेनाचार्ये**, **कालिदास**ना **मेघदूत**ना जेटला श्लोको छे ते सर्वे एक अथवा बे चरणो लइने पोताना **पार्श्वाभ्युदय**ना दरेक श्लोकमां ग्रथित कर्यां छे. आज सूधी **कालिदास**ना **मेघदूत**नी समस्यापूर्ति दरेक कविए तेनुं अंतिम चरण लइने

करी छे, पण आ काव्यमां तो संपूर्ण **मेघदूतने** स्थान मळ्युं छे; एटली आ काव्यनी विशेषता छे. आ काव्यनी केटलाक वाचको प्रशंसा करे छे त्यारे केटलाक वाचको तेनी सरळता माटे मान दर्शावे छे. स्व. **किलाभाइ** पोताना **मेघदूतना अनुवादनी** प्रस्तावनामां लखे छे के—"**पार्श्वाभ्युदयनी** रचना कंइक क्लिष्ट अने बहुधा जैन लेखकोना जेवा ज गुणवाळी छे.........**कालिदासना मेघदूत** करतां पण पोतानुं काव्य कंइक वधारे गुणवाळुं छे, एवुं मिथ्याभिमान **जिनसेनने** हतुं एम जणाय छे. ए काव्यनी वाणी कर्कश अने रस विनानी छे........." त्यारे **प्रो. के. बी. पाठक "कुमारिलभट्ट अने भर्तृहरी"** नामना पोताना निबंधमां **जिनसेनस्वामीना** विषयमां लखे छे के—"**जिनसेन अमोघवर्ष** (पहेला) ना राज्यकाळमां थया हता एम पोते पोताना **पार्श्वाभ्युदयमां** लखे छे. **पार्श्वाभ्युदय** संस्कृत साहित्यमां एक कौतुकजनक उत्कृष्ट रचना छे. आ ते समयना साहित्यस्वादनुं उत्पादक अने दर्पणरूप अनुपम काव्य छे. जो के सर्वसाधारणनी सम्मतिथी भारतीय कविओए **कालिदासने** पहेलुं स्थान आप्युं छे, तो पण **जिनसेन मेघदूतना** कर्तानी अपेक्षा अधिकतर योग्य मानी लेवाने अधिकारी छे" **प्रथम अभिप्राय जातीय अभिमाननो पडघो छे त्यारे बीजो अभिप्राय व्याजबी तुलनानुं परिणाम छे.** तेनी योग्यता केवी छे ते नीचेना उदाहरणरूपे आपेला श्लोको उपरथी पाठके बांधी लेवी जोइए—

चित्रं तन्मे यदुपयमनानन्तरं विप्रयुक्ता
त्वत्तः साध्वी सुरतरसिका सा तदा जीवति स्म ।
मन्ये रक्षत्यसुनिरसनाद्धातुमापद्गताना-
"माशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम्" ॥ ३५॥

'× × × ×

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्गं
तल्पेऽनल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते ।

तीव्रापाया त्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नापं
"क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः" ॥ ४ ॥
सर्ग ४.

× × × × ×

"तत्र व्यक्तं दृशदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले–"
रर्च्यं भर्तुस्त्रिभुवनगुरोरर्हतः सत्सपर्यैः ।
"शश्वत्सिद्धैरुपहृतबलिं भक्तिनम्रः परीयाः"
पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव ॥ ६५ ॥

× × × × ×

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम् ।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादा शशाङ्कं
भुवनमवतु देवस्सर्वदाऽ**मोघवर्षः** ॥

जिनसेने आ काव्यमां पार्श्वनाथना चरितने गुंथ्युं छे. **जिनसेने** प्रथम **जैनहरिवंशपुराण** शाके ७०५ मां लख्युं अने आठमा सैकाना उत्तरार्धमां **पार्श्वाभ्युदय** लख्युं एम मानवामां आवे छे.

पवनदूत

आ काव्यना कर्त्ता श्री**वादिचंद्र** छे. आमना विषे वधारे जाणवामां आव्युं नथी. आ काव्य १०१ श्लोक पर्यंत छे अने निर्णयसागरनी ग्रंथमालामां प्रगट थयुं छे. (काव्यमाला गु. १३). जैन ग्रंथावलीना अवलोकनथी जणाय छे के, श्वेतांबरसंप्रदायमां ए नामना कोइ साधु थया नथी पण तेमां दिगंबरसंप्रदायमां **ज्ञानसूर्योदय** नामक नाटकना कर्ता तरीकेनी नोंध छे. (पृ० ३३६). कदाचित् आ काव्यनी रचना ते सूरिनी होय. आ काव्यमां जो के स्पष्ट **कालिदासना मेघदूतनी** छाया छे, परंतु आ काव्य मेघदूतनी समस्यापूर्त्ति नहीं होतां स्वतंत्र कृति छे. अने तेनी रचना अति प्रासादिक छे. जिज्ञासुए निर्णयसागर काव्यमालागुच्छक १३ मो वांचवो जोइए.

आ काव्य **खंभात**निवासी **सांगण**ना पुत्र **विक्रम** कविए रच्युं छे. आ कविना जीवनविषे वधारे जाणवामां आव्युं

नेमिदूत

नथी. परंतु एटलुं तो निश्चय पणे कही शकाय छे के, कवि **ऋषभदास**, प्रख्यात गुर्जर भाषामां अत्युत्तम रासाओ रची जेणे कविओमां सारुं स्थान प्राप्त कर्युं छे[1], तेमना आ कवि भाइ थाय छे. बन्ने कविओना काव्योनी प्रशस्तिउपरथी उक्त बाबत स्पष्ट जाणी शकाय छे. आ कविनी आ एक **नेमिदूत**सिवाय अन्य कृति होय एम हजु जणायुं नथी.

कविए **मेघदूत**ना दरेक काव्यनुं अंतिम चरण लइ, अन्य त्रण चरणो पोते रची आ काव्यनी रचना करी छे. आ काव्यना संबंधमां स्व. **किलाभाइ** पोताना **मेघदूतना अनुवाद**नी प्रस्तावनामां लखे छे[2] के–"आनी भाषा, विचार अने पद्यरचना वगेरे सारां छे अने काव्यना गुणोमां पार्श्वाभ्युदय करतां ए कंइक चढियातुं छे." आ कविए काव्यमां अप्रासंगिक बिलकुल कर्युं नथी. शरुआतना श्लोकथी वियोगी राजीमती पोतानुं दर्द मेघद्वारा नेमिनाथने कहावे छे वस्तु बीज एटलुं बधुं प्रख्यात छे के, तेना वर्णनमां कवि उतर्या नथी परंतु कविए काव्यमां विरही जनोनी यथार्थ दुःखित अवस्थानुं जे वर्णन करेलुं छे ते वांचवाथी वाचकने तुरत समजाशे के कवि सर्वानुभवी छे. आ १२५ श्लोकनुं दूतकाव्य नायक प्रत्ये विरहिणी नायिकाना उपालंभोथी भरेलुं छे. पाठक श्लोके श्लोके राजीमतिनी दुःखित अवस्थामां तन्मय बनी ते दुःख पोते अनुभवतो जणाय छे. अहीं ज कविनी निपुणता छे के वाचक पोतानी स्थिति भूली काव्यनी स्थितिमां परिणत थाय. कविनी लालित्यपदपूर्ण कृतिना केटलाक श्लोको उदाहरणरूपे आपवा उचित समजीए छीए,

प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्गं समग्रं
हित्वा भोगान् सहपरिजनैरुग्रसेनात्मजां च ।

१–जुओ जैन कोन्फरन्स हेरल्डना ऐतिहासिक अंकमां रा. मोहनलाल द. देशाइनो "श्रावक कवि ऋषभदास" नामनो लेख.

२– जुओ ते पुस्तकनुं पृ. ८

जैनमेघदूतनी

श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिर्धूतदोषम् ।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ ५ ॥

× × × × ×

तुङ्गं शृङ्गं परिहर गिरेरेहि यावः पुरीं स्वां
रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालाम् ।
शोभासाम्यं कलयति मनाङ् नालका नाथ यस्या
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

× × × × ×

रम्या हर्म्यैः क्व तव नगरी दुर्गशृङ्गः क्व चाद्रिः
क्वैतत्काम्यं तव मृदु वपुः क्व व्रतं दुःखचर्यम् ।
चित्तग्राह्यं हितमिति वचो मन्यसे चेन्ममालं
किञ्चित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ १६ ॥

× × × × ×

प्रावृट्प्रान्तं प्रियतमगता दुर्दशा दुःखदेव
प्रायोऽन्योन्यं रतिकरमितः सांप्रतं सङ्गमाय ।
भोगानेकोत्सवसुखसुखानिच्छया मन्दिरे स्वे
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ११८ ॥

गत्वा शीघ्रं स्वपुरमनुजं प्राप्य राज्यं त्रिलोक्याः
कीर्तिं शुद्धां वितनु सुहृदां पूरयाशां च पित्रोः ।
राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ १२३ ॥

× × × × ×

तद्दुःखार्थं प्रवर कवितुः कालिदासस्य काव्या-
दन्त्य पादं सुपदरचितान्मेघदूताद्गृहीत्वा ।

श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा
चक्रे काव्यं बुधजनमनःप्रीतये विक्रमाख्यः ॥ १२६ ॥

नेमिदूतं समाप्तम् ॥

उपरना काव्यकारनी पेठे आ काव्यना कर्ताए पण **मेघदूत**नुं अंतिम चरण लेइ, बाकीनां त्रण चरणो पोते रचेलां छे. आ संदेशकाव्यनी वस्तुकथाथी जैन समाजमां भाग्ये ज कोइ अपरिचित हशे. मनुष्यो जे वृत्तिना दास बनीने पोतानुं जीवन निरर्थक गुमावी बेसे छे, अनंत भूतकाळथी लइ अनंत भविष्यकाळना जगतने दृष्टिसमक्ष करी अवलोकन करवामां आवे तो जणाशे के ए पशुवृत्तिनो पराजय करनारा मनुष्यो बहु अल्प संख्यामां मळी आवशे. ते वृत्ति–विषयवृत्ति–उपर जय मेळवनार प्रख्यात स्थूलभद्रनुं विशद चरित्र आलेखवामां आव्युं छे.

शीलदूत

स्थूलभद्र जगतना व्यवहारथी विमुख थइ, शिशुवयथी कोशानी साथे विषयविलासमां केटलुंय जीवन व्यतीत थया बाद, अचानक राज्यप्रपंचोमां पोताना पितानुं मृत्यु थयुं एम सांभळे छे. जे कुटुंब अने जनतामां अळखामणो थई पडेल अने जेना उच्च जीवन माटे कोइने आशा न हती; ते स्थूलभद्रना हृदयमां एकाएक जगतनी प्रापंचिक जंजाळोनां प्रतिबिंबो पडे छे, अने तेथी जीवननी दिशाने बदली नाखवानुं आंदोलन उत्पन्न थाय छे. जे वीर जेटला वेगथी विषयरसमां रच्यो पच्यो रहेतो हतो, ते वीर तेटला ज वेगथी तेने तिलांजली आपी आत्माना कल्याणार्थे भद्रबाहुस्वामी पासे जाय छे. त्यां पोताना जीवननुं व्हेण बदली नाखी, पूर्वपरिचित कोशाने विशुद्ध मार्गे चडाववा माटे पुनः त्यां पधारे छे. कोशा स्थूलभद्रने आवो शुष्कमार्ग ग्रहण करवामाटे ठपको आपे छे, अने आवा कठोर व्रतनो त्याग करी पुनः पूर्व दशामां आववा माटे विनति करे छे. जवाबमां स्थूलभद्र जणावे छे– भोळी आपणा आत्माना अविकासनी ए आपणी दशा हती. जो शाश्वत सुखनी वांछना होय तो आवां अल्पसमयी

सुखोने छोडी देवां जोइए. कोशाने पोतानी अज्ञानतानुं भान थाय छे अने स्थूलभद्रना मार्गनुं अवलंबन करे छे. कविए काव्यनी शरुआत साधुदशामां स्थूलभद्र कोशाने घेर आवे छे, त्यांथी करी छे. पछी नायकनायिकानो परस्पर संवाद चितरी काव्यनी पूर्णाहुती कोशा स्थूलभद्रना मार्गने अनुसरे छे, त्यां थाय छे.

काव्यकार **चारित्रसुंदर** गणी तेमनी केटलीक कृतिओथी जैन-समाजमां सारी रीते परिचित छे. तेमनी कृतिओ पैकी श्रीकुमारपाल महाकाव्य, श्रीमहीपालचरित्र अने आचारोपदेश आदि सुप्रसिद्ध छे. तेमना विषे विशेष लखवुं ते विषयांतर गणाय. आ स्थळे वांचकोना विनोदनेमाटे **शीलदूत**ना केटलाक श्लोको आपवा ठीक समजुं छुं.

भुक्त्वा भोगान् सुभगतिलकः कोशया सार्द्धमिद्धान्
धन्यो मान्यो निखिलविदुषां भद्रया स्थूलभद्रः ।
चक्रे श्रुत्वा जनकनिधनं जातसंवेगरङ्गः
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

चित्ते मत्वा विषयनिचयं सत्वरं गत्वरं वै
गच्छन्नेषोऽध्वनि वनजिनध्यानसंलीनचित्तः ।
शान्तं कान्तं रसमिव गिरौ श्रीगुरुं भद्रबाहुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

कामान्धोऽहं तदिह बहुधा कर्ममोहादकार्षम्
जानात्यन्यो न हि जिनपतेर्यद्विपाकं मुनीश ! ।
यावज्जैनीं वचनरचनां वा न विन्दन्ति तावत्
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ॥ ५ ॥

× × × × ×

स्वामिन्नङ्गीकुरु परिचितं स्वाधिकारं पुनस्त्वं
भोगान् भुङ्क्ष्व प्रिय ! सह मया साधुवेषं विहाय ।
दोलाकेलिं किल कलयतः कौतुकात् काननान्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ ११ ॥

× × × × ×

हीनं दीनं सुभग! विरहात् ते धुताऽऽहारनीरं
पश्येदं मे वपुरुपचितिं याति नान्यैः प्रयोगैः ।
जाने नाहं वहु निगदितुं त्वद्वियोगार्त्तिजातं
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ ३१ ॥

× × × × ×

नीरागं मे समजनि मनो ज्ञाततत्त्वस्वरूपं
तेनेदानीं न विषयरसो बाधते कुत्रचिन्माम् ।
पश्याम्येनामपि वनसमां चित्रशालां खलूच्चै-
र्यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ ८६ ॥

× × × × ×

अज्ञानं मे सपदि गलितं मोहमूर्च्छाऽप्यनेश-
ज्जातं चित्तं सुतनु ! मम तन्निर्विकारं क्षणेन ।
स्वस्रा मृत्योरिव हि जरसा ग्रस्यमानं तनुं स्वां
मन्ये जातां तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् ॥९०॥

× × × × ×

भद्रे! भद्रं भवतु सततं ते जिनेन्द्रप्रसादाद्
नन्तुं पादानथ निजगुरोरेष यास्यामि शस्यान् ।
ध्यायन्त्यै श्रीजिनपरिवृढं शीलरत्नेन शश्वद्
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ १२३ ॥

× × × × ×

कोशाऽपि श्रीजिनमतरता शीलमाराध्य सम्यक्
पत्युः स्नेहादिव दिविषदां धाम सा स्राग् जगाम ।
आपद् व्यापद्रहितमतुलं तत्र सा तं विशेषा—
दत्राऽमुत्र प्रदिशति सुखं प्राणिनां जैनधर्मः ॥ १२९ ॥

× × × × ×

द्रङ्गे रङ्गे रतिकलतरे स्तम्भतीर्थाऽभिधाने
वर्षे हर्षाज्जलधिभुजगाऽम्भोधिचन्द्रप्रमाणे ।

चक्रे काव्यं वरमिह मया स्तम्भनेशप्रसादात्
सद्भिः शोध्यं परहितपरैरस्तदोषैरसादात् ॥ १४१ ॥
॥ शीलदूताभिधानं समस्यामयं काव्यं समाप्तम् ॥

आ सिवाय **इंदुदूत, चेतोदूत अने मेघदूतसमस्यालेख** आदि संदेश काव्योनो परिचयना जिज्ञासुओए **विज्ञप्तित्रिवेणी** जोवी जोइए. (प्रस्तावना पृ० ६ थी २७) नाहक अहीं आपी पिष्टपेषण करवुं उचित समजतो नथी.

मेघतदूनां जैनेतर अनुकरणो

आ प्रमाणे जैनेतरोए पण विविध दृष्टिए **कालिदासना मेघदूतनुं** अनुकरण कर्युं छे. तेओमां पण एके एवुं संदेश काव्य अद्यापि मळ्युं नथी जे **कालिदासना मेघदूतनी** स्पर्धामां टकी शके. अत्यार सुधीमां जे मळी आव्यां छे तेमनो मात्र नामनिर्देश ज करवो बस समजु छुं.—(१) **पवनदूत–धोइक**कृत (२) **हंससंदेश–वेदांतदेशी**-कविकृत (३) **कोकिलसंदेश–उद्दंडशास्त्री**कृत (४) **शुकसंदेश –लक्ष्मीदास**कृत (५) **उद्धवदूत–माधव**कवींद्र भट्टाचार्यकृत (६) **मनोदूत–तैलंगव्रजनाथ**कृत (७) **रथांगदूत**–नाम नथी (८) **पदांकदूत–कृष्णसार्वभौम**कृत (९) **हंसदूत–रूपगोस्वामि**कृत (१०) **उद्धवसंदेश**–नाम नथी. आ बधांना संबंधमां स्व. **किलाभाइ** जणावे छे के, **वेदान्तदेशी**कविकृत **हंससंदेश** घणुं उत्तम प्रकारनुं दूतकाव्य छे. अने अत्यंत रमणीय होवाथी कालिदासना मेघदूतकरतां पण चढे तेवुं छे, एम **अभिनवभट्टबाण कृष्णमाचार्य मेघसंदेशनी** प्रस्तावनामां लखे छे. आ काव्य शोध करतां पण मने मळी आव्युं नथी. एटले ते उपर कीधुं तेमां केटलुं सत्य छे, ते कही शकातुं नथी. परंतु मेघदूतना करतां ए काव्य जो चढे एवुं होय, तो एनी आजसुधीमां घणी सारी प्रसिद्धि थवी जोइए. आ सिवाय बीजां जे अनुकरणो मळे छे तेमांनां केटलां एक सामान्य काव्य तरीके सारां छे अने केटलांक माल वगरनां पण छे.

जैनमेघदूत.

माणस अनेक जन्मोना संस्कारोथी, पोताना आजुबाजुना सहवासथी अनायासे शृंगाररसमां विशेष आनंद पामे छे. कविओ पण समाजना चारित्रनो विचार कर्या सिवाय या पोते पण पूर्वभूत संस्कारोथी दबायेला होवाथी समाजना इष्टानिष्टनो विचार कर्या सिवाय, पोतानी कृति टुंक समयमां सर्वत्र विशेष आदर पामे, ए मुख्य लक्ष्य राखी काव्यसृष्टिमां विहर्या छे. श्रीमान् **हेमचंद्राचार्य काव्यानुशासनमां** रसनुं वर्णन करतां शृंगाररसनुं वर्णन पहेलां केम कर्युं तेनुं समाधान करतां जणावे छे के "तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृंगारः" आचार्यश्रीए आ थोडा शब्दोमां माणसना हृदयनुं प्रतिबिंब रजु करेलुं छे. शृंगाररसना कार्यप्रदेशनी मर्यादा परस्पर स्त्रीपुरुषमां अवसान पामे छे. तेमने हमेशां पोताना ज सुखनी लागेली होय छे. तेओ अन्यना सुखदुःखनी चिंता धरता नथी. छेवटे तो शृंगाररसनुं पर्यवसान दुःखमां ज आवे छे, या जो ते विकास पामे तो शान्तरसनुं रूप धारण करे छे. आथी कविओए जो शृंगाररसथी आगळ वधी शान्तरसनी सृष्टि रची होत तो समाज विशाळ भावनावाळो थइ शक्यो होत. रसनी जमावट एवी न होवी जोइए के मनुष्य पोतानी "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाळी भावनाने नेवे मूके. जो शृंगाररसथी तृष्णा विशेष बळवान बने तो ते शृंगारिक साहित्यथी माणस आदर्शजीवी केवी रीते बनी शके. शृंगारिक साहित्यथी मनुष्यने बदलामां शुं मळे छे?. प्रियपात्रनी झंखनामां शरीर घसाइ जाय छे, कुटुंब, समाज के देशनी फरजो भूली जाय छे. सारासारनो विचार थइ शकतो नथी. वळी तेवुं साहित्य सामान्य जनसमूहमां फेलावाथी अनेक दुर्गुणोने आश्रय मळे छे. आथी उलटुं विचारीए—शान्तरसनुं साहित्य माणसने शुं लाभ आपे छे? अनुचित तृष्णानो नाश करे छे. मनुष्यधर्मनुं भान करावे छे. तृष्णाओ क्षय पामतां तेनी मर्यादा विशाळ रूप धारण करे छे. तेनी भावना "सर्वे सत्त्वाः सुखिनः सन्तु" होय छे. ते साहित्य जगतमां विश्वप्रेमनी भावना प्रसारे छे. प्रजाकीय साहित्यनी आशा राखनारने तो शृंगारथी दूर रहेवुं पडशे.

आ प्रमाणे कविओनां काव्यो सोए नवाणुं टका श्रृंगाररसथी लदायेलां होय छे. तदनुसार आ कविए पण श्रृंगार रसने प्रधानपद आप्युं छे. पण कवि पोते धार्मिक अवस्थामां होवाथी तेनुं पर्यवसान उत्तम शांतरसमां करेलुं छे. तेथी ज आ बन्ने रसनी जमावट थइ शके ते माटे नायक तरीके यदुकुलशिरोमणी श्री**नेमिनाथने** पसंद करवामां आव्या छे. श्रृंगारना रसपानथी घेलो थयेलो समाज, पोतानी प्रेमभावना धीरे धीरे विश्वप्रेममां परिणत करे, तेटला माटे ज पोतानी अवस्थाने घटे तेवां ऐतिहासिक दृष्टांतो समाज समक्ष रजु करवां लाभदायक छे. आवी अवस्थावाळां बे दृष्टांतो जैनसमाजमां उज्ज्वळ कीर्तिथी पोतानुं स्थान दीपावी रह्यां छे. एक तीर्थंकर प्रभु नेमिनाथ अने बीजुं स्थूलभद्र. आ बे व्यक्तिओने अनुलक्षी जैन कविओए अनेक विविध काव्यो, कथानको, चरित्रो अने रासाओ गुंथेलां छे ते ज प्रमाणे आ काव्यमां प्रभु **नेमिनाथनुं** चरित्र आलेखायेलुं छे.

टुंक काव्य-परिचय

प्रभु नेमिनाथ बाळपणथी इंद्रियोना विषय रसथी उदासी होवा छतां, कुटुंबीजनोना संतोषार्थे लग्न माटे तैयार थइ जाय छे. तेवामां पोताना निमित्ते हजारो निर्दोष पशुओनुं बलिदान थनार छे एम सांभळ्युं. आ समाचार सांभळतां ज घरबार, सहोदर अने पत्नी आदिनो त्याग करी पोतानुं अंतिम ध्येय प्राप्त करवा सौन्दर्यशाली गिरनार पर्वतउपर चाल्या गया.

'पोताना पति पोतानो सदाने माटे त्याग करी चाल्या गया' आवो वज्रपात समान संदेश सांभळी राजीमती मूर्छा पामे छे. ते दरम्यान नवीन मेघनुं आगमन थाय छे. चंदन अने बीजा शीतोपचारथी राजीमती कंइक चेतनामां आवे छे, अने मेघनुं दर्शन थतां सहसा बोली उठे छे—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यरांक्षी–
तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम् ॥ ४ ॥

आवा संयोगोथी विरहानलमां बळती राजीमती विचारे छे के, मारुं हृदय प्रिय वल्लभ विना तप्त पाषाणनी पेठे फूटे छे, आ दुःखनो प्रतिकार दृष्टिसमक्ष उपस्थित थयेल आ मेघ ज छे. कारण दावानळथी बळता वनने शीतळ जळथी शांत करनार केवळ मेघ ज छे. तदनुसार ते मारा प्रियतमने पण शांत करशे. आम विचारी केटलाक श्लोकोमां मेघनो सत्कार करे छे. ते पछी पोताना पतिने जे संदेश कहेवानो छे, ते पहेलां तेमनी ओळखाण करावे छे. कवि प्रभुनुं चरित चितरवामां बधुं काव्य पूर्ण करे छे. अथवा काव्य चार सर्गमां वहेंचायुं छे. तेमनी विषयवार वहेंचणी आ प्रमाणे करी शकाय—

पहेला सर्गमां नेमिनाथनी बालक्रीडा तथा पराक्रमलीलानुं वर्णन छे.

बीजा सर्गमां वसंतवर्णन छे. तेमां प्रभुनी विविध प्रकारनी वसंतक्रीडानुं वर्णन छे.

त्रीजा सर्गमां विवाहमहोत्सव अने गृहत्यागनुं वर्णन छे.

चोथा सर्गमां विरहविवशा राजीमती पतिविरहिणी स्त्रीनी दशानुं वर्णन करे छे. ते समये पोतानी दशानुं वर्णन मेघने संभळावे छे—

कोकी शोकाद्वसति विगमे वासरान्ते चकोरी
शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकंठी ।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवाऽ-
मत्रं वारां हृद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः! ॥ ४–९ ॥

आ प्रमाणे पोतानी दुःखित अवस्थानुं वर्णन कर्या पछी पोताना प्राणनाथने कहेवाना संदेशने संभळावे छे. चोथा सर्गना १४ मा श्लोकथी आरंभे छे अने २७ मा श्लोक सूधीमां समाप्त करे छे. राजीमतीनी साहेलीओ आ संदेशो सांभळी राजीमतीने कहे छेः—हे सखि! तुं क्यां ने प्रभु नेमि क्यां? मेघ क्यां अने आ तारो संदेश क्यां? आ सर्व अघटित बीना छे. तुं गमे तेटलो प्रयत्न करीश पण वीतरागी त्हारा उपर राग नहीं करी शके. तुं तेनो विश्वास छोडी

दे. राजीमती सखीओनां उक्त वचनो सांभळी शोकनो त्याग करी केवळज्ञान पामेला प्रभुनी पासे जइ व्रतग्रहण करे छे. त्यां स्वामीना ध्यानथी तन्मयत्व—स्वामिमयत्व प्राप्त करे छे. अथवा जेम स्वामी रागद्वेष रहित छे तेम तेणे रागद्वेष विनानुं आत्मत्व प्रगटाव्युं.

कवि अहीं काव्यने पुरुं करे छे. आ प्रमाणे आ संदेश महाकाव्य चार सर्गमां १९६ श्लोकोमां समाप्त थाय छे.

आ काव्यनी रचना नामसाम्य विना बीजी बधी रीते स्वतंत्र छे. कविए बीजां संदेश काव्योनी माफक कवि कालीदासना मेघदूतनी समस्यापूर्ति करी नथी. शैली, रचना, विभाग ए बधी बाबतोमां काव्य स्वतंत्र छे. काव्य प्रतिपदश्लिष्ट होवाथी क्लिष्ट छे. तेथी टीकानी साहाय्य विना अर्थ कहाडवो तुरतमां कठिन लागे छे. तो पण व्युत्पत्तिनी इच्छा राखनार विद्यार्थीने आ काव्य घणुं उपयोगी निवडवा संभव छे. पदलालित्य, अलंकारता अने प्रासादिकतामां आ काव्यथी कवि **विक्रमनुं नेमिदूत** अने **चारित्रसुंदरगणिनुं शीलदूत** चढी शके छे एम निष्पक्षपातपणे कहेवुं पडशे. काव्यना गुणदोषनुं पृथक्करण करवानुं कार्य विद्वज्जनोनुं छे.

काव्यकार मेरुतुंग

जैन समाजमां **मेरुतुंग** नामना आचार्यो बे त्रण थया छे. तेमां ग्रंथकार तरीके तो बे ज अत्यार सूधीमां प्रसिद्धिमां आव्या छे. एक **चंद्रप्रभशिष्य मेरुतुंग** अने बीजा **अंचलगच्छीय महेंद्रप्रभसूरिशिष्य मेरुतुंग**. पहेला ग्रंथकारनी समयमर्यादा चौदमो सैको छे. अने बीजानी पंदरमो सैको छे. आ बीजा **मेरुतुंग** छे ते आपणा काव्यकार छे.

प्रथम आचार्य **महापुरुषचरित** अथवा **उपदेशशत, प्रबंधचिंतामणी, विचारश्रेणी, धर्मोपदेश, थेरावली, षड्दर्शनविचार,** विगेरे ग्रंथोना कर्त्ता तरीके सुप्रसिद्ध छे.[1]

---

१ आ आचार्यविषे विशेष जाणवानी इच्छा राखनारे बॉम्बे ब्रॉन्च रॉयल एशिआटिक सोसाइटी जर्नल इ. १८६७–६८ पृ.–१४७ जोवुं.

बीजा **मेरुतुंग** ते प्रस्तुत काव्यना कर्त्ता तरीके जाणीता छे. आपणा आ काव्यकारना जीवनविषे विशेष प्रकाश पाडे तेवां घणां साधनो अत्र तत्र विखरायेलां पड्यां छे. ते बधाने सरणीबद्ध गोठववामां आवे तो तेमने विषे सारुं जाणी शकाय तेम छे. परंतु तेमना विषे कोइ प्राचीन कविए बनावेलो रास हस्तगत थयो छे. ते रास थोडा समयमां प्रकाशित थशे एटले ते स्थळे आ सर्वे उपकरणोनो उपयोग करवा धार्यो छे. ए माटे आपेला सामान्य परिचयथी वाचको संतोष मेळवशे एम इच्छीए छीए.

काव्यकारनो अल्पपरिचय

मारवाडमां[1] आवेला **नाणी** गाममां **पोरवाल** वंशीय **वहोरा वैरसिंहनुं** कुटुंब प्रख्यात हतुं. वहोरा **वैरसिंहनी** पत्नीनुं नाम **नालदेवी** हतुं. अने तेनाज उदरथी आपणा काव्यकारनो वि. सं. १४०३ मां जन्म थयो हतो. गृहस्थावासमां तेमनुं नाम **वस्तिक**[2] हतुं. **अंचलगच्छीय** प्रसिद्ध आचार्य श्री**महेंद्रप्रभ**सूरि विहरता विहरता ते गाममां आवी पहोंच्या. वहोरा **वस्तिके** तेमनी पासे दीक्षा ग्रहण करी, अने ते समये तेमनुं नाम **मेरुतुंग** राखवामां आव्युं. एक तो बाल्यावस्था अने तेमां बालब्रह्मचर्यत्वनो संयोग थवाथी पोते विद्याध्ययन बहु सारुं करी शक्या. ते समयनी शिक्षानी पद्धतिनी अनुसार तेमणे संस्कृत, प्राकृत भाषामां अने तेनी साथे संबंध धरावती विविध विद्याओमां बहु सारी व्युत्पत्ति प्राप्त करी हती. समयना वहन साथे तेमनामां चारित्र, ज्ञान अने क्रियानो संपूर्ण विकास थयो, त्यारे तेमना गुरुए तेमने वि. सं० १४२६ मां पाटणमां सूरिपद आप्युं. ते पछी आगळ जतां वि. सं० १४४५ ना फागण वदी ११ ना दिवसे गच्छनायकनी पद्वीपर तेमनी प्रतिष्ठा थइ. गच्छ अने संघ उपर तेमनो सारो प्रभाव

१–व्याख्यान पद्धतिमां "थालदेश" एवो उल्लेख छे.

२–व्याख्यान पद्धतिमां "वस्तो" अने आ गच्छनी गुर्जर पट्टावलीमां "वस्तपाल" नामछे ते ठीक लागे छे.

हतो एम तेमनी पाछळना उल्लेखोथी समजाय छे. त्यार पछी वि. सं. १४७१ मागशर सुदी १५ ना दिवसे पाटणमां काळधर्म पाम्या. आ प्रमाणे तेमनी हैयाती वि. सं. १४०३ थी १४७१ सूधी हती अर्थात् तेओ ६८ वर्षे जीवनमुक्त थया हता. आटलुं लांबुं आयुष्य तेमणे पोताना विकास माटे अने समाजनी सेवार्थे खर्ची नाख्युं हतुं आ तेमनो समयनिर्णय अंचलगच्छनी पट्टावली, तेमनो रास वगेरे साधन उपरथी निर्णीत थयेल छे.

ग्रंथकारतरीके जीवन

काव्यकारे पोताना जीवनमां रचेला ग्रंथोनी सूची स्पष्टपणे आटली तो आपी शकाय छे—(१) **जैनमेघदूत महाकाव्य** (२) **सप्ततिकाभाष्यटीका** (३) **लघुशतपदी** (४) **धातुपारायण** (५) **षड्दर्शनसमुच्चय** (६) **बालबोधव्याकरण** (७) अने तेनी **वृत्ति.** (८) **सूरिमंत्रकल्पसारोद्धार** वगेरे. एमणे प्रायः दरेक ग्रंथनी पाछळ प्रशस्ति तो आपेली छे. परंतु क्यांय रचनासमयनी नोंध नथी. तेथी दरेक ग्रंथोनो समयनिर्णय कष्टसाध्य छे. फक्त **सप्ततिकाभाष्यटीका**प्रशस्तिमां जणावे छे केः—

"स्वस्य प्रशस्यस्मरणार्थमेतैर्विनेयवात्सल्यरसाभ्युपेतैः ।
व्यतानि नन्दाम्बुधिवेदसोमसंवत्सरे सप्ततिभाष्यटीका ॥"

आ सिवाय अन्य ग्रंथोना निर्माणकाळ उपर विशेष प्रकाश पाडी शकाय तेम नथी

मेघदूतनी समाप्तिना छेडे तेओ कर्त्ता तरीके पोतानुं नाम आपता नथी पण **सप्ततिकाभाष्यनी वृत्तिनी** प्रशस्तिमां स्वयं पोताना ग्रंथो बाबत जाणावे छे के,

काव्यं श्रीमेघदूताख्यं षड्दर्शनसमुच्चयः ।
वृत्तिर्बालावबोधाख्या धातुपारायणं तथा ॥
एवमादिमहाग्रन्थनिर्मापणपरायणाः ।
चतुराणां चिरं चेतश्चमत्काराय येऽन्वहम् ॥

आ सिवाय दूतटीकाकार टीकानी पीठिकामां मेघदूतना कर्त्ता तरीके आचार्यनो ज उल्लेख करे छे.

आ सिवाय **जीतकल्पसार** अने **ऋषिमंडल** स्तोत्रना कर्त्ता तरीके **मेरुतुंग**ने गणाववामां आवे छे, पण ते कया **मेरुतुंग** ते चोक्कस कही शकातुं नथी. वळी जैनग्रंथावळीमां **बालावबोधव्याकरण**ना कर्त्ता साथे तेना उपर रचायेल **आख्यातवृत्तिढुंढिका, कृद्वृत्ति-टिप्पन** अने **प्राकृतवृत्ति**ना कर्त्ता तरीके पण **मेरुतुंग**नो उल्लेख छे. पण मने तो आ नोंधमां भ्रम लागे छे. कारण पोते **मेरुतुंग सप्ततिका-भाष्यटीका**नी प्रशस्तिमां लखे छे ते प्रमाणे **बालबोधव्याकरण** अने तेनी वृत्तिना कर्त्ता होवा जोइए. वळी बीजुं कारण व्याकरणकर्त्ताने पोते ज पोताना व्याकरणउपर एकवृत्ति सिवाय भिन्न भिन्न वृत्तिओ बनाववानुं प्रयोजन रहेतुं नथी. आ नोंधमां भ्रम थवानुं कारण एम कल्पी शकाय छे के नोंधनारना हाथमां व्याकरणना भिन्न भिन्न कटका हाथ आव्या होय अने ते दरेक उपर तेमनी वृत्ति तो होय, ते प्रमाणे दरेके जुदी जुदी नोंध करी लागे छे. आ सिवाय आ ग्रंथोनुं विस्तीर्ण स्पष्ट वर्णन तो तेमना रासना संपादन समये आपवानुं होवाथी अहीं आटलुं संक्षेप सूचन करी विरमवुं ठीक लागे छे.

टीकाकार

आ काव्य उपर बे टीकाओ थयेली छे. एक आ काव्य साथे छपाइ छे ते, अने बीजी श्री**महीमेरुगणी**कृत छे. आ प्रकाशन पामती टीकाना कर्त्ता श्री**शीलरत्नसूरि** छे. टीकाना अवलोकनथी जणाय छे के, टीकाकार व्याकरण, अलंकार अने न्यायशास्त्रमां व्युत्पन्न होवा जोइए. स्थळे स्थळे प्रयोगोनी सिद्धि व्याकरणद्वारा बहु स्पष्टताथी समजावी छे. टीका बहु सरल छे, जेथी अभ्यासीने अभ्यासमां मददगार निवडवा संभव छे.

टीकाकार आ महाकाव्यकर्त्ताना प्रशिष्य थाय छे. तेमना गुरुनुं नाम श्री**जयकीर्त्तिसूरि** छे. तेओए आ टीका **पाटण**मां वि. सं. **१४९१** ना चैत्रवदी ५ने बुधवारे रची छे. तेनुं संशोधन श्री**माणि-**

क्यचंद्र सूरिए कर्युं छे. आ सर्वे बाबत टीकाकारनी प्रशस्ति जोवाथी स्पष्ट थइ जाय छे. तेओ आचार्य छे, छतां मूळ गच्छनायक नहीं होवाथी एमने विषे विशेष वृत्तांत मळी आवतो नथी. तेमणे आ टीका सिवाय अन्य कृति करी होय तेम पण जाणवामां नथी. टीकाना अध्ययनथी तेमना विषे बहुमान जागृत थयुं. अने तेने लीधे केटलो य प्रयत्न कर्यो, पण तेमणे कंइ ग्रंथरचना करी होय तेम जणायुं नहीं.

लेखक—

ता. ३-१-२४ }
अमदावाद. }

छोटालाल मगनलाल शाह,
झुलासणवासी.

निवेदन अने आभारप्रदर्शन ।

आ अपूर्व काव्य काव्यनुं पठनपाठन करनारने अत्यंत उपयोगी होवाथी **निर्णयसागर** जेवा सर्वोत्तम छापखानामां छपावी प्रसिद्ध कर्युं छे. आ काव्यनुं संशोधन मुनि श्री**चतुरविजयजी**ए कर्युं छे अने तेनी हस्तलिखित बे प्रतिओ पण तेओए ज मेळवी हती. तेमांनी एक प्रति प्रवर्तक श्रीमत् **कांतिविजय**जी महाराजना पुस्तकसंग्रहनी हती. ते प्रतिनां कुल पत्रो ६६ हतां. पत्रनी दरेक पुंठीमां १४ लीटिओ हती. एटले तेनी बन्ने बाजुए मलीने २८ लीटिओ हती. आ प्रतिना अंतमां–"संवत् १९६६ मागसरवदि ९ बुध वारे" एवो लेख होवाथी आ प्रति नवीन छे अने ते जोइए तेवी शुद्ध न होती.

बीजी प्रति **पाटणसंघना भंडारनी** हती. तेनां २६ पत्रो हतां. तेनी दरेक पुंठीमां २४ लीटिओ लखेली हती. आ प्रतिना छेवटमां– "संवत् १४९४ वर्षे वैशाखवदी. २ सोमे लेखकपाठकयोः शुभं भवतु ॥" एवो उल्लेख छे. तेथी आ प्रति टीका रचाया पछी त्रीजे ज वर्षे लखाएली छे, छतां जोइए तेवी शुद्ध नथी. परंतु उपरनी प्रति करतां घणी ज सारी छे. आ प्रतिमां टीकाकारनी प्रशस्तिनो ६ ठ्ठो श्लोक नथी.

प्रस्तुत काव्यनुं संशोधन तथा प्रुफ जोवानुं कार्य मुनिराज श्री **चतुरविजयजी**ए निःस्वार्थबुद्धिथी घणी काळजी राखी करी आप्युं छे तेथी तेओश्रीनो अने पुस्तक आपनार महाशयोनो खरा अंतःकरणथी उपकार मानुं छुं. जो के आ काव्यनुं संशोधन सारी रीते थयुं छे छतां कोइ स्थळे पठनपाठन करनार महाशयने स्खलना देखाय तो सुधारी ले एटली प्रार्थना छे. आ काव्य उपर **झुलासण**-निवासी भाइ श्री**छोटालाल मगनलाल** शाहे विस्तृत प्रस्तावना लखी आपी मने आभारी कर्यो छे तेथी ते महाशयनो पण उपकार मानुं छुं.

सेक्रेटरी.

श्रीजैन आत्मानंद सभा.

भावनगर.

अञ्चलगच्छीय-श्रीमेरुतुङ्गाचार्यविरचितं

जैन-मेघदूतम् ।

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

श्रीमन्मेरुतुङ्गसूरिविरचितं

आचार्यश्रीशीलरत्नविरचितवृत्तिविभूषितं

जैनमेघदूतम् ।

प्रथमः सर्गः ।

आदौ यः समकालमेव सकलाश्चित्रं द्वितीयाद्वये-
नान्वीतोऽप्युदितोदितेन महसा भ्राजिष्णुरुच्चैः कलाः ।
प्रादुर्भावयति स्म विश्वविहितोद्योतो वृषाङ्कोच्छ्रित-
श्रीकः श्रीऋषभः स पुष्यतु सुखं स्फारस्तुषारद्युतिः॥

संत्यज्याच्युतमप्यकृत्रिमगुणस्थैर्यं रसाधीश्वरं
संपर्कं च बलाद्विमुच्य सकलं कल्कस्य कर्मार्जितम् ।
श्रित्वा रैवतपर्वतायतगुहां योऽपूर्वयोगीश्वरः
कल्याणोदयसारसिद्धिमतनोज्जीयात्स नेमिर्जिनः ॥

माधुर्येण मनोहरा परिणतौ सौख्यैकसंपादिका
काम्या कल्पतरोः फलावलिरिव स्फारा यदीया मुदम् ।
वाग्दत्ते विबुधव्रजाय स नवं श्रीमेघदूतं महा-
काव्यं श्रीगुरुमेरुतुङ्गगणभृच्चूडामणिर्निर्ममे ॥

गम्भीरार्थगुरुत्वधारिणि महाकाव्येऽत्र निर्दूषणे
टीका प्रत्युत लाघवाय भविता स्थूलार्थबुद्धेर्मम ।

अम्भोधिप्रभवे प्रभूतमहसा मान्ये महार्घ्ये मणौ
सामान्यस्वधियार्थजल्पनमजापालस्य बालस्य वा ॥
ये प्राज्ञाः स्वयमर्थचारिमगुणव्यापारपारङ्गमा-
स्तेषामेष विशेषकृन्नहि भवेन्मद्वाक्प्रपञ्चः किल।
ये सूक्ष्माक्षरदर्शिनो नयनयोर्नैर्मल्यतोऽत्र स्वयं
किं तेषां स्फटिकोपलस्तु फलिनो वर्णस्फुटत्वप्रदः ॥
ये सन्ति मन्दमतयो भुवनेऽत्र बाला
मत्तोऽप्यतीक्ष्णतलिनप्रतिभाः स्वभावात्।
तेषां प्रबोधविधये स्वमतिप्रकाश-
हेतुं च यत्नमहमप्यमुमातनोमि ॥

इह हि महामहिममित्रीकृतमेरुमहीधरप्रोत्तुङ्गशृङ्गश्री**मेरुतुङ्ग**-सूरिश्वरा अस्मद्गुरवः प्रवरनवरसप्रसरपूतं श्री**मेघदूतं** महाकाव्यं चतुरचक्रचित्तचमत्कृतिचञ्चु प्रपञ्चयाञ्चक्रुः। नन्वग्रेऽपि श्री**हेमाचार्य**-पण्डितश्री**अमर-कालिदासा**दिमहाकविप्रणीतानि गणनातीतानि प्रतिपदप्रादुर्भवन्नवरसावतारसारालङ्कारसङ्गतश्रोत्रामृतसमाननिरुपमानध्वनिनिधीतमाधुर्यादिगुणप्रधानरचनास्फीतानि सन्ति सङ्ख्यावत्सन्ततिस्तव्यानि महाकाव्यानि। तैरपि व्युत्पत्तेर्जायमानत्वात् किमयं मुधा प्रयत्नः? उच्यते, सत्स्वप्यतुच्छप्रौढतापदप्रदत्तप्राप्तरूपचित्तप्रसादेष्वपि चिरन्तनेषु प्रासादेषु पुनः सुकृतिनां नवनवप्रासादनिर्मापणवद्विद्यमानेष्वपि महाकाव्येषु महाकवीनां नवनवकाव्यनिर्मापणं परमप्रतिष्ठापदमेव। तथा च प्रयोगः—"सत्स्वपि काव्येषु कवीनां नवीनकाव्यनिर्मापणं युक्तमेव प्रतिष्ठाप्रदत्वात्, नव्यप्रासादनिर्मापणवत्।" चातुर्यस्य च फलमेतदेव, यथा **रुद्रटः**—"फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः। यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः॥"

---

१ 'श्रुतिपद०' इत्यपि।

(काव्यालङ्कार १,१३) ननु नहि निष्प्रयोजना प्रवृत्तिः प्रेक्षावतामिति किमत्र प्रयोजनं? उच्यते, "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" (१, २) इति **काव्यप्रकाशा**द्युक्तेषु बहुष्वपि प्रयोजनेष्वत्र जगत्त्रयत्रायकश्री**नेमिजिन**नायकपवित्रचरित्राकर्णनादेव परमप्रमोदोत्पत्तिः प्रयोजनम्, सकलप्रयोजनेषु तस्या एव प्रशस्यत्वादन्यप्रयोजनेषु सुविहितयतीनामिच्छाया असम्भवाच्च। ननु महाकाव्यानि तान्येवोच्यन्ते यत्र नगनगरसागरनरपतिप्रधानर्तुचन्द्रसूर्योदयशृङ्गारादिनवरसवर्णनं स्यात्। यथा **रुद्रटः**—"सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये। उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥ तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्। कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात् ॥ पञ्चरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा। परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविः सेत्यनुत्पाद्या ॥ तेषु महान्तो येषु प्रकृतेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः। सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ॥ ते तनवो[1] विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्। असमग्राऽनेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ॥" (काव्यालङ्कार १६, २-६) इत्यादिवचनादत्र तेषां सर्वेषामसाकल्येऽपि कथं महाकाव्यता? इति चेत् सत्यम्, परं पेप्रीयमाणविद्वल्लोकैः स्तोकैरपि परमयुक्तियुक्तैरपूर्वार्थरचनानुषक्तैः प्रधानैः काव्यस्थानैर्महाकाव्यव्यपदेशो नानौचित्यमञ्चति, **नैषधा**दिकाव्यवत्। अथवा परमाभङ्गुरगुरुसौभाग्यरङ्गावतारसर्वदैवतसार**यदु**कुलशृङ्गारश्री**नेमिकुमार**चरितकीर्त्तनात्केवलादेव जाघटीत्यस्य महाकाव्यप्रतिष्ठा। यथा जात्यरत्नरचितसौवर्णमुद्रिकयैव शृङ्गारेषु शोभासम्भारः। तत्रादौ मङ्गलाभिधेयगर्भमिदं वृत्तम्—

१ "लघवो" रुद्रटकाव्यालङ्कारे।

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार ।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार ॥ १ ॥

'कश्चित्' लोकोत्तरगुणतयाऽलक्ष्यस्वरूपस्त्रिभुवनगुरुः 'कान्तां' पत्नीं 'स्वैरं' स्वेच्छया 'उज्झाञ्चकार' तत्याज । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, 'पात्रादिवर्जितादन्तोत्तरपदः समाहारे ।' (हेमलिङ्गानुशासन स्त्री० ५ श्लो०) इत्यत्र भुवनशब्दस्य पात्रादिगणान्तःपाठान्न ङीप्रत्ययः । ततश्च त्रिभुवने गुरुर्महान्, महत्त्वं चास्य गार्हस्थ्येऽप्यनन्यसम्भविपरब्रह्मविद्याविशेषत्वात्सकलसुरासुरनरेश्वराणां वन्दनीयत्वाच्च । यदि वा "भाविनि भूतवदुपचारः" इतिन्यायात्त्रिभुवनस्य गुरुः शास्ता सम्यग्धर्मोपदेशक इति यावत् । अचिरेणैव केवलज्ञानोपलम्भेन यथावस्थितसमस्तवस्तुतत्त्वाववबोधात्सकलसत्त्वहितार्थमेव प्रवर्त्तनशीलत्वाच्चेति । नन्वविषयेत्यादिविशेषणानि किं स्वरूपप्रतिपादकानि व्यवच्छेदकानि वा?, आद्ये पक्षे तानि वैयर्थ्यं प्राप्नुयुः । अथ व्यवच्छेदकानि तर्हि किं व्यवच्छेद्यं निजागद्यते?, कान्तात्यागस्तथाविधहेत्वन्तरेणापि स्यान्नलादिवदित्याह—'अविषयसुखानीच्छुः' विषयाः श्रोत्रादीन्द्रियार्थाः शब्दादयस्तद्रहितानि सुखान्यविषयसुखानि विषयसुखानां दुर्गतिदायित्वादिदोषदुष्टत्वेन तत्त्वतो दुःखरूपत्वादकृत्रिमचिदानन्दसुखानीतिभावस्तानीच्छतीत्येवंशील इच्छुः "विन्द्विच्छू" (सिद्धहेम ५–२–३४) इत्यनेन इच्छुर्निपातः । अविषयसुखेच्छा च कदाचित्तत्तद्विषयदोषानुभवेऽपि स्यादत आह—'अत्यन्तधीमान्' अन्तमतिक्रान्ता अत्यन्ता, "प्रात्यवपरिनिरादयोगतक्रान्तकुष्ट–" (सिद्धहेम ३–१–४७) इत्यादिना तत्पुरुषः क्रियाविशेषणं वा । ततोऽत्यन्ता अत्यन्तं वा धीर्विद्यते यस्य स तथा, औत्पत्तिक्यादि-

बुद्धित्रिकस्यातत्त्वनिष्ठेन प्रायः सान्तत्वादत्यन्तधीरत्र पारिणामिक्यैव गृह्यते, तस्या एव सम्यग् हेयोपादेयपरिणामसुन्दरविचारसामर्थ्येनात्यन्तनिःश्रेयसफलवत्त्वेनात्यन्तविशेषणविशिष्टत्वात् । ननु यद्येवंविधो भगवान् तदा कान्तां किमत्यजत्? इत्याह—'एनोवृत्तिं' एनसां हिंसादिपातकानां वृत्तिं व्यापारं सर्वपापव्यापाराणां कारणत्वात् । कान्तायाः शुद्धसारोपलक्षणया एनोवृत्तेरारोपः, यथा "आयुर्घृतं, यशस्त्यागः" इत्यादि । कथं कान्तां तत्याज? इत्याह—'स्वैरमिति' स्वेच्छया न तु परोपदेशेन, अर्हतां स्वयमेव संबुद्धत्वात् । 'अथो' इत्यानन्तर्ये । 'सुरतरुरिव' कल्पवृक्ष इव दानं दत्त्वा 'रैवतं' सुराष्ट्रामण्डलालङ्कारं श्रीगिरिनारं 'स्वीचकार' भेजे । दीयते यत्तद्दानं कोटिसङ्ख्यकाञ्चनादि, भुजिपत्यादीनां आकृतिगणत्वात्कर्मण्यनट्, यथा भोजनमिति । ननु अस्वं स्वं चकार स्वीचकारेति व्युत्पत्तेराश्रयणात्तस्य भगवतो ममत्वदोषः प्रसज्यत इति चेन्न, योगिनामपि ध्यानसाधनस्थानादिषु स्वीचकारमात्रदर्शनात् । अन्यथा योग्यदेशादिषु प्रवृत्तिरयोग्यादिभ्यश्च निवृत्तिस्तेषां न स्यादिति । अपरपर्वतान् परित्यज्य रैवतमेव कुतः स्वीचकार? इत्याह—'पृथ्वीधरवरं' पृथ्वीधरेषु मेरुमानुषोत्तरादिषु सुखाधिरोहत्वासन्नत्वाभ्यामुपयोगित्वात् शेषपर्वतेषु पुनः सहस्राम्रवणादिसौन्दर्येण तुङ्गत्वादिना च वरं श्रेष्ठम् । एवंविधश्च पर्वतः सदोषोऽपि कदाचिद्भवतीत्याह—सर्वदोषाणां सर्पमार्जारवायसादिहिंस्रजन्तूनां चाभावेन 'पुण्यं' पवित्रम् । कुतो रैवतं स्वीचकार? इत्याह—'अत्युच्चधामारुरुक्षुः' अतिशयेनोच्चं धाम स्थानमपरस्थानस्यैतद्विशेषणानुपपत्तेर्लोकाग्ररूपमारोढुकामः, अयमर्थः—अन्यो योऽत्युच्चतरस्थानमधिरोढुमिच्छति स उच्चं स्थानं भजते । एवं भगवानप्यत्युच्चमुक्तिपदारोहं वाञ्छन्नुत्तुङ्गं रैवतपर्वतं स्वीचकारेति । इह कश्चित्कान्तेति वाक्यावयवः श्री**कालिदास**कृत**मेघदूत**महाकाव्यप्रथमवृत्ताद्यवर्णानुवृत्त्योपात्तः । न चैवमत्र कर्तृ-

कर्मणोः कथामूलबीजयोः साक्षान्नाम्नोरनुपादानाद्वाच्यहीनदोषो वाच्यः, अनन्यसाधारणतथाविधप्रसिद्धार्थसामर्थ्यादेव तत्प्रतीतेः । न खलु यदुकुलालङ्कारश्रीनेमिकुमारादपरस्य कस्यापि त्रिभुवनगुरोः स्वसमये परसमये च कान्तात्यागवार्षिकदानगिरिनारस्वीकारविषया प्रतीतिरस्ति येन तत्साधारण्यनिवृत्तये नामोपादानं क्रियत एव । किञ्चार्थसामर्थ्यात्प्रतीयमानस्य वस्तुनः साक्षादप्रकाशनं प्रत्युत दीप्ति-हेतुः, 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति वचनात् काव्ये व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यात्, "इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।" (का० प्र० १, ४) इति **काव्यप्रकाशोक्तेः** । शब्दस्य व्यञ्जकत्वं संयोगादिभिः स्यात्, "संयोगो[1] विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ प्रस्ताव[2]देशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥" अत्र कान्तां त्यक्त्वा श्रीगिरिनारस्वीकारो देशवैशिष्ट्यम् । त्रिभुवनगुरोःशब्दस्य नेमीश्वरनामव्यञ्जकत्वम् । **न्यायसारे**ऽप्युक्तम्—"अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम् ।" तत्रापि कश्चिदिति पदं समानेऽपि सकलत्रिभुवनगुरूणामलक्ष्यत्वे शङ्खपूरणचतुर्भुजान्दोलनवसन्तखेलनादिप्रवृत्तिपथप्रवर्त्तानुत्तरनिवृत्तिकोटिमारूढस्य सुविशेषतरमस्य भगवतोऽलक्ष्यत्वं द्योतयति । यथा—"सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने ।" इह "यावत्सम्भवस्तावद्विधिः" इतिन्यायाद् विशेषोऽपि व्याख्यायते—अन्योऽप्यत्यन्तधीमान् कश्चित्पुमान् एनोवृत्तिमुज्झति । किंरूपाम्? सकलजीवस्वाभाव्यात्कान्ताम् । अथोऽनन्तरं पुण्यं स्वीकरोति । किंभूतं पुण्यम्? पृथ्वीधरवरं, पृथ्वीं धरन्तीति पृथ्वीधरा लोकरूढ्या शषाहिवराहकूर्मादयस्तेषु वरं श्रेष्ठम् । अनवस्थादोषपरिहाराय सर्वै-

---

१ "संसर्गो" इति क्वचित् । २ "सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्ति स्वरादयः ।" इति ग्रन्थान्तरेषु पाठः ।

रपि परमार्थतो धर्म्मस्यैव पृथिव्याधारत्वेन स्वीकारात् । शेषविशेषणपदान्यत्रापि पूर्ववद्वाच्यानि । केवलमत्युच्चं धाम लोकाग्ररूपं सर्वोत्तमं तेजो वा । ननु काव्यं गुणालङ्कारभूषितं कार्यम् । यतो **वाग्भटः**—"साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।' (१-२) इत्यादि । अत्र को गुणः? कोऽलङ्कारः? उच्यते, यद्यपि **वाग्भटे** दश गुणाः सन्ति तथापि **काव्यप्रकाशेऽलङ्कारचूडामणौ** च त्रयो गुणाः प्रोक्ताः सन्ति, 'माधुर्यौजःप्रसादास्त्रयो गुणाः ।' (अलङ्कारचू० ४ अ०) अन्येषामेष्वेवान्तर्भावात् । अत्रार्थस्य झगित्यर्थार्पकत्वात् प्रसादः । पदानां मृदुरचनया च माधुर्यमपि । एवं गुणा यथार्हमूह्याः । एषां लक्षणम्—"मूर्ध्निवर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू । अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये रचना तथा ।। योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः । टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।। श्रुतिमात्रेण शब्दानां येनार्थप्रत्ययो भवेत् । साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः ।।" (काव्यप्रकाश ८,७४-७६) ननु सगुणमपि काव्यं युवतीरूपमिव निरलङ्कारं नाभात्यतोऽलङ्कारा उच्यन्ते—अलङ्कारा द्विधा, शब्दार्थभेदात् । तत्र शब्दालङ्काराः पञ्च—वक्रोक्ति १ अनुप्रास २ यमक ३ चित्र ४ श्लेष ५ रूपाः । अर्थालङ्कारास्तूपमाद्या बहुप्रकाराः । अत्रान्येष्वपि च काव्येषु प्रायोऽनुप्रासः शब्दालङ्कारस्तारतम्येन ज्ञेयः । तल्लक्षणम्—"तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः" (वाग्भट ४, १७) इति । कश्चित्कान्तामित्यादौ काद्यक्षरावृत्तिः स्वयमभ्यूह्या । अर्थालङ्कारास्तु अवसर १ हेतु-२ दीपक ३ उपमा ४ जाति ५ श्लेषा ६ ज्ञेयाः । तत्र श्रीनेमिसम्बन्धं प्रतिपादयितुः कवेः कश्चित्कान्तां तत्याज रैवतं स्वीचकारेति तस्योपलक्षणमित्यवसरः, "यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् । प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ।।" (वाग्भट ४, १२४) कान्तात्यागेऽविषयसुखेच्छुताऽत्यन्तधीमत्ता एनो-

वृत्तिमित्यादि तद्योग्यतोक्त्या हेतुः, "यत्रोत्पादयतः किंचिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते । तदयोग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥" (वाग्भट ४, १०५) इति वचनात् । कान्तामुज्झाञ्चकार रैवतं स्वीचकारेति क्रियाद्वयस्य कश्चिदित्यनेन सम्बन्धाद् दीपकम्, यतः—"आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसङ्गतिः । वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥" (वाग्भट ४, ९९) सुरतरुरिवेत्युपमा । तल्लक्षणम्—"उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा । प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥" (वाग्भट ४, ५०) तथा पुण्यं पृथ्वीधरवरं जातिः । यतः—"स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सत्क्रियस्याक्रियस्य वा । जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥" (वाग्भट ४, ४७) एकेन वाक्येन तैरेव पदैर्द्वितीयार्थस्योद्भावात् श्लेषः । "पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि । अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ॥" (वाग्भट ४, १२८) एषां संयोगात् सङ्करो ज्ञेयः ॥ १ ॥

दीक्षां तस्मिन्निव नवगुणां सैषणां चापयष्टिं
प्रद्युम्नाद्यामभि रिपुचमूमात्तवत्येकवीरे ।
तद्भक्तेति च्छलितजगता क्लिश्यमाना निकामं
कामेनाशु प्रियविरहिता भोजकन्या मुमूर्च्छ ॥ २ ॥

'भोजकन्या' राजीमती 'आशु' शीघ्रं मुमूर्च्छ । क्व सति? 'तस्मिन्नेकवीरे' श्रीनेमिनाथे दीक्षां 'आत्तवति' गृहीतवति सति । विशेषेणेरयति प्रेरयति महामोहमिति वीरः, एकोऽद्वितीयो वीर एकवीरः "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम्" (सिद्धहेम ३-१-९७) इति कर्म्मधारयः । तस्मिन् समये तादृशचरितस्यान्यस्याभावादद्वितीयः, "एकोऽन्यः केवलः श्रेष्ठः सङ्ख्या" (हेमानेकार्थद्विस्वरकाण्ड २श्लो०) इत्यनेकार्थात् । यद्वा वीरः सुभटः । किंभूतां दीक्षाम्? उत्प्रेक्ष्यते—प्रद्युम्नाद्यां रिपुचमूं 'अभि' लक्ष्यीकृत्य 'चा-

चापयष्टिमिव' धनुर्यष्टितुल्यामित्यर्थः। प्रद्युम्नः काम आद्यो मुख्यो यस्यां सा प्रद्युम्नाद्या ताम्। पक्षे प्रकृष्टं द्युम्नं बलं यस्य स प्रद्युम्नो बलाधिकः पुमानाद्यो यस्यां सा ताम्। किंविशिष्टां दीक्षाम्? 'नवगुणां' नवा गार्हस्थ्ये प्रागभूतत्वात् प्रत्यग्राः शीलक्षमादयो गुणा यस्यां सा ताम्। चापपक्षे नवो गुणः प्रत्यञ्चा यस्याम्। पुनः किंभूतां दीक्षाम्? 'सैषणां' सकलदोषविशुद्धभक्तपानादिग्रहणरूपैषणाख्यतृतीयसमितिसहिताम्। धनुष्पक्षे एषणो नाराचः। अत्रान्याः समितीर्विहायैषणासमितेरेवोपादानं व्यवहारशुद्धिर्गृहस्थानामाहारशुद्धिश्च साधूनां प्रशस्यते इति ज्ञापनार्थम्। ननु यदि तेन भगवता दीक्षा गृहीता तदा राजीमती किं मूर्च्छिता? इत्याह—कामेन 'निकामं' अत्यर्थं क्लिश्यमाना। किंभूतेन कामेन? 'छलितजगता' छलितं जगद्विश्वं येन। कुतः क्लिश्यमाना? 'तद्भक्ता' इति, एषा राजीमती तस्मिन् श्रीनेमिनाथे भक्ता तद्भक्ता। तथापि राजीमती कुतः पीडयितुं शक्या? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—'प्रियविरहिता' प्रियेण भर्त्रा श्रीनेमिना विरहिता वियुक्ता। ततश्चायमत्र भावः—श्रीनेमीश्वरेण चारित्रे गृहीते सति तद्विरहदुःखेन राजीमती मूर्छितेत्येवंकथा सम्बन्धसर्वस्वेतिसति कविरुत्प्रेक्षते—यदा किलाग्रेसरीभूतकन्दर्पसुभटस्य महामोहकटकस्य ध्वंसनायैकवीरेण श्रीनेमिना सैषणा दीक्षाचापयष्टिरग्राहि तदा श्रीनेमिनं प्रत्यपकर्तुमशक्नुवता छलयुद्धकुशलेन कामेन श्रीनेमिभक्ता श्रीनेमिरहिता चेति निकामंक्लिश्यमाना सती राजीमती मूर्च्छिता। अत्र च भोजकन्या प्रियविरहिता चेति मिथो विरुद्धविशेषणद्वयोपादानं राजीमत्या भगवान् वरो वृतो भगवता पुनर्नैषा वधूत्वेन स्वीकृतेत्युभयभावज्ञापनार्थम्। अत्रोपमाऽनुप्रासश्लेषोत्प्रेक्षाहेत्वलङ्काराः। "कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा। द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा॥" (वाग्भट ४, ९०)॥ २॥

ततो मूर्च्छानन्तरं किं जातम्? इत्याह—

सध्रीचीभिः स्खलितवचनन्यासमाशूपनीतैः
स्फीतैस्तैस्तैर्मलयजजलार्द्रादिशीतोपचारैः ।
प्रत्यावृत्ते कथमपि ततश्चेतने दत्तकान्ता-
कुण्ठोत्कण्ठं नवजलमुचं सा निदध्यौ च दध्यौ ॥ ३

'ततः' तदनन्तरं 'सा' राजीमती 'नवजलमुचं' नवीनमे 'निदध्यौ' ददर्श 'च' अन्यद् 'दध्यौ' वक्ष्यमाणं विचारयामास क सति? 'तैस्तैः' सर्वलोकप्रसिद्धैः 'स्फीतैः' प्रभूतैर्मलयजजलार्द्रादिशीतोपचारैः 'कथमपि' महता कष्टेन 'चेतने' ज्ञाने 'प्रत्यावृत्ते सति पश्चाद्वलिते सति । मलयजं चन्दनं जलार्द्रा क्लिन्नवस्त्रमित्यादयो ये शीता उपचारास्तैः । किंरूपैः? 'सध्रीचीभिः सखीभिः स्खलितवचनन्यासं यथाभवति 'आशु' शीघ्रं 'उपनीतैः' ढौकितैः । स्खलितः स्खलनां प्राप्तो वचनानां न्यासो यत्र शीतोपचारोपनयने । कोऽर्थः? राजीमतीं मूर्च्छितां दृष्ट्वा शोकेन हलाश्चन्दनं चन्दनं जलार्द्रा जलार्द्रेत्यादि सखीनां वचनान्यौत्सुक्येन स्खलन्ति सन्तीति । किंरूपं नवजलमुचम? 'दत्तकान्ताकुण्ठोत्कण्ठं' दत्ता कान्ते प्रिये कान्तायां वा पत्न्यामकुण्ठा तीक्ष्णा उत्कण्ठा येन स तथा । वर्षाकाले हि नवं मेघमुन्नतं दृष्ट्वा नारीणां कान्ते नराणां कान्तायामुत्कण्ठा जायते । ततः शोकगद्गदस्वराभिः सखीभिरानीतैश्चन्दनादिशीतोपचारैश्चैतन्ये पश्चाद्वलिते सति राजीमती नवं मेघं ददर्श । तथेति मनस्यध्यायदिति भावार्थः । अत्रानुप्रासप्रकरः । स्खलितवचनन्यासमित्यादिविशेषणैरौत्सुक्यभावोदयः । परिकरालङ्कारश्च, यथा **रुद्रटः**—"साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत । द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति ॥" (काव्यालङ्कार ७, ७२) दत्तकान्तेत्यादि नवमेघविशेषणं राजीमत्या अपि स्वामिन्यनुरागभावं सूचयतीति भावः ।

तथा—"यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन । गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥" (रुद्रटकाव्यालङ्कार ७, ३८) निदध्यौ दध्यौ चेति क्रियाद्वयेन समुच्चयः । यथा—"यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव । ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधाऽन्यः सदसतोर्योगः ॥" (रुद्रटकाव्यालङ्कार ७, १९) एवमनुप्रासपरिकरभावसमुच्चयपरिकरालङ्कारा औत्सुक्यभावोदयश्च॥३॥

अथ सा यद्दध्यौ तदाह—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यराङ्क्षी-
त्तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम्॥४॥

'एकं तावदिति' लोकोक्तेरनुकरणम् । यथा—"एकतो हि गमनं परदेशे अन्यतश्च पिशुनैः सह सङ्गः । पूर्वमेव हि कुभोजनमेकं मक्षिकाकवलितं च ततोऽन्यत् ॥ १ ॥" लोको हि दुःखपरम्परापीडित एवं वक्ति तेनात्र न्यूनपदत्वं न दोषाय किन्तु गुणाय । अव्यक्तत्वान्नपुंसकम् । "गायत्र्याद्यणस्वार्थे व्यक्तं" (हे० लि० न० १०) इति वचनात् । यथाऽस्या गर्भे किं जातमिति । ततोऽयमर्थः—एकं तावदिदं कष्टं यत् 'मेघकालः' वर्षाकालः किंविशिष्टः? विरहिणां हृदयस्य द्रोहं करोतीति विरहिहृदयद्रोहकृत् । 'द्वैतीयीकं' द्वितीयमिदं कष्टं 'प्रकृतिगहनः' स्वभावविषमः 'यौवनारम्भः' तारुण्यप्रवेशः । 'तार्तीयीकं' तृतीयमिदं कष्टं यत् 'सैषः' सर्वजगत्प्रसिद्ध एष मानसप्रत्यक्षतया समीपवर्ती साक्षादनुभूयमानो भगवान्नेमिर्भोगात् 'व्यराङ्क्षीत्' विरक्तः । किंरूपो भगवान्? हृदयस्य दयितो वल्लभः । 'तुर्यं' चतुर्थमिदं कष्टं यत् 'न्याय्यात्' न्यायादनपेतात् 'पथः' मार्गात् 'मानसं' चित्तं 'न चलति' न भ्रश्यति । एतावता स्वीयस्वामिनं परित्यज्य मनोऽन्यं

पुरुषं न प्रार्थयतीतिभावः । द्वैतीयीकं तार्तीयीकमित्यत्र द्वितीय पूरणं द्वैतीयीकं तृतीयस्य पूरणं तार्तीयीकम्, "तीयाट्टीक" (सि० ७–२–१५३) टीकण् प्रत्ययः । "वृद्धिः स्वरेष्वादेः-" (सि० ७–२–१) वृद्धिः । सैष इत्यत्र "तदः सेः स्वरे पादार्थ" (सि० १–३–४५) इत्यनेन सिलोपः । यथा—"सैष दाश रथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी सैष भीम महाबलः ॥" व्यराङ्क्षीत्, रञ्जी रागे, रञ्ज विपूर्वः । अद्यतनी दि "सिजद्यतन्यां" (सि० ३–४–५३) सिच् । "व्यञ्जनानाम निटि" (सि० ४–३–४५) वृद्धिः । "सः सिजस्तेर्दिस्योः (सि० ४–३–६५) ईआगमः । "चजः कगम्" (सि० २-१–८६) ज ग । "अघोषे प्रथमोऽशिटः" (सि० १–३–५० ग क । "नाम्यन्तस्था–" (सि० २–३–१५) स ष । कषसंयोगे क्ष लोकात् । तुर्यमित्यत्र चतुर्णां पूरणं तुर्यं, "ये यौ चलुक् च" (सि० ७–१–१६४) यप्रत्ययः चलुक् । न्यायादनपेतं न्याय्य तस्मादनपेते यप्रत्ययः । अत्रासत्पदार्थसमुदायादसत्समुच्चयः न्याय्यान्नेत्यत्र पर्यायः । यथा—"वस्तुविवक्षितवस्तुप्रतिपादनश· क्तमसदृशं तस्य । यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः ॥" (रु० का० ७, ४२) विप्रलम्भरसाधिक्यं वा ॥ ४ ॥

कृष्णो देशप्रभुरभिनवश्चाम्बुदः कालिमानं
न्यध्यासाते तदवगमयाम्येनसैवार्जितेन ।
तत्रैकोऽसत्पतिविरचिताश्लेषपेषानिषेधा–
दन्योऽस्माकं गहनगहने विप्रयोगेऽग्निसर्गात् ॥ ५ ॥

यत् 'देशप्रभुः' देशस्वामी कृष्णः 'च' अन्यत् अभिनवोऽम्बुदः 'कालिमानं' कृष्णत्वं 'न्यध्यासाते' बिभृतः 'तत्' कारणमहं 'अव· गमयामि' जाने । येन हेतुनैतौ द्वावपि कृष्णाङ्गौ जातौ तत्कारण-. महं जाने इत्यर्थः । अत्रावगमयामीति कथं प्रयोगः सिध्यति ?

पालयतीतिवत् अन्तर्भूतण्यर्थस्य ण्यन्तस्य प्रयोगः । अथवा तत्कारणं जनं 'अवगमयामि' ज्ञापयामीत्यविवक्षितकर्मधातुः । अथवाऽवगमनमवगमः, "युवर्णवृद्वशरणगमृद्ग्रहः" (सिद्ध० ५-३-२८) अल्प्रत्ययः, तस्य हेतोरवगमस्तदवगमः, तदवगमं करोमि तदवगमयामि । "णिज् बहुलं नाम्नः-" (सिद्ध० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सिद्ध० ७-४-४३) अन्त्यस्वरलोपः, पश्चान्मिव्प्रत्यये सिद्धम् । अथवा यत्तदिति विभक्तिप्रतिरूपका अव्ययशब्दाः । किं कारणम्? इत्याह—अर्जितेन 'एनसैव' पापेनैव तौ कालिमानं न्यध्यासाते इति शेषः । अथ पापार्जने हेतुमाह—कस्मादर्जितेनेति । 'तत्र' तयोर्द्वयोर्मध्ये 'एकः' कृष्णः 'अस्मत्पतिविरचिताभ्रेषपेषानिषेधात्' अर्जितेनैनसाऽस्माकं पतिरस्मत्पतिस्तेन विरचितो योऽभ्रेषो न्यायस्तस्य पेषो विनाशस्तस्यानिषेधादनिवारणात् । "अविशेषणे द्वौ चास्मदः" (सिद्ध० २-२-१२२) इत्येकत्रार्थेऽपि बहुत्वम् । अयं भावः—मम पत्याऽहं स्वीकृत्य परिहृतेत्यन्यायः कृतः, स श्रीकृष्णेन राज्ञा न निषिद्धः । अतः "राज्ञि राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहिते । भर्त्तरि स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरोर्भवेत् ॥" इति न्यायात्कृष्णस्य पापं लग्नमिति । 'अन्यः' अम्बुदोऽस्माकं 'विप्रयोगे' वियोगे 'अग्निसर्गात्' अग्निरिवाग्निर्मनस्तनुसंतापकत्वाद्दुःखसंभारस्तस्य सर्गात्सृष्टेः । वर्षासु घनोन्नतौ विरहिणां महादुःखोत्पत्तिः । यतः—"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः । कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि! धीरा भव ॥" इति काव्यश्रवणात् । किंविशिष्टे विप्रयोगे? 'गहनगहने' गहनं कान्तारं तद्वद्गहनो दुर्गमः । ततोऽग्रेऽपि गहनो विरहस्तत्र पुनरपि प्रियस्मारणरणरणकादिना दुःखवर्द्धनं क्षते क्षारक्षेपवन्महापापाय, यथा कोऽपि वने पतितानामग्निदानं करोति तस्य महापापम् । अत्र

समुच्चयकाव्यलिङ्गपरिकरानुप्रासाः । यथा—"समुच्चयोऽसौ त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः ॥" (का॰ प्र॰ १०, ११ "काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥" (का॰ प्र॰ १०, ११ देशप्रभुरिति अभिनव इति साभिप्रायैर्विशेषणैः परिकरः ॥ ५ ।

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यश्रु वर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्यत्यौष्ण्यमिग्रत् ।
वर्षास्वेवं प्रभवति शुचे विप्रलब्धोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकुहनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम् ॥ ६ ॥

'विप्रलब्धः' वियोगवान् 'वामावर्गः' स्त्रीवर्गो वर्षासु 'ए वक्ष्यमाणेन प्रकारेणानेन मेघेन युक्तं स्पर्द्धते । किंरूपो वामावर्ग 'प्रकृतिकुहनः' प्रकृत्या कुहन ईर्ष्यालुः । किं कुर्वन्? 'अस्मिन्' अम्ब वाहे 'नीलीनीले' सति गुलिकाश्यामवर्णे सति 'शितिलपनय शिति श्यामं लपनं मुखं करोतीति । पुनः किं कुर्वन्? 'वर्षया वृष्टिं कुर्वति अश्रु वर्षन् । अस्मिन् गर्जति सति 'पटु' पटिष्ठं 'क श्रवणासुखदं तीव्रं 'रटन्' विलपन् । अस्मिन् 'विद्यति' विद्यु द्योतयति 'औष्ण्यं' उष्णभावं 'इग्रत्' प्राप्नुवन् । किंविशिष्टेऽम्बुवाहे 'शुचे' शोकाय प्रभवति सति । अन्योऽपि यो येन स्पर्द्धते स तर चेष्टामनुकरोति, अतो यदा वर्षुको मेघः कालतां कलयति, यतः "रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः । वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नै प्रायाः पयोमुचः ॥" तदा वामावर्गोऽपि कृष्णं मुखं करोति । यद वर्षति तदाऽश्रु वर्षति । यदा गर्जति तदा गाढं प्रलपति । यदा च विद्युतं प्रकाशयति तदोष्णनिःश्वासान् मुञ्चति । वर्षासु कालत्वादि भावैर्विशिष्टमुन्नतं मेघं वीक्ष्य विरहिणीवर्गः कालमुखत्वादिकं दधाति, तच्च स्पर्द्धारूपेणात्र विशिष्यते । शिति च तल्लपनं च शिति- लपनं तत्करोतीति "णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु" (सि॰ ३-४- ४२) णिच्प्रत्ययः, पश्चात् शतृ । वृषू सेचने, वृष्, वर्षणं वर्ष

"वर्षादयः क्लीबे" (सि० ५–३–२९) अल्प्रत्ययः। वर्षं करोतीति "णिज् बहुलं–" (सि० ३–४–४२) णिच्, पश्चात् शतृ। विद्युतं करोतीति "णिज् बहुलं–" (सि० ३–४–४२) णिच्प्रत्ययः। "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरादेः उल्लोपः। विद्यतीति वर्तमाने। उष्णस्य भाव औष्ण्यं "पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्म्मणि च" (सि० ७–१–६०) ट्यण्प्रत्ययः। ऋक् गतौ, ऋ, इयर्तीति इयत्। वर्त्तमाने "शत्रा-नशौ–" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्ययः। "ह्वः शिति" (सि० ४–१–१२) द्विर्वचनम्। "ऋतोऽत्" (सि० ४–१–३८) ऋकारस्य अ। "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४–१–५८) इत्वम्। "पूर्वस्यास्वे स्वरे योरियुव्" (सि० ४–१–३७) इय्। "इवर्णादेरस्वे–"(सि० १–३–२१) रत्वं, प्रथमा सि। "ऋदुदितः" (सि० १–४–७०) नोऽन्तः। "अन्तो नो लुक्"(सि०४–२–९४)नलुक्। अत्र निदर्शनापरिकरसमुच्चयानुप्रासाः। तत्र निदर्शनाया लक्षणम्—"निदर्शना। अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः॥ स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा। अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया॥ कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति। तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥" (का० प्र० १०, ९७–९९) अत्र विरहिणीनां विरहविशेषे प्रस्तुते सति तदन्यमेघस्य वचः॥ ६॥

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्मां निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने।
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तर्णस्य स्यात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः॥ ७॥

'असौ' भगवान्नेमिः 'ज्ञोऽपि' निपुणोऽपि अहिरिव 'कस्माद्धेतोः' कुतः कारणान्मां निर्मोकत्वचमिवामुञ्चत् 'तत्' कारणमहं 'न जाने' न वेद्मि। यथा—'अहिः' सर्पः कस्माद्धेतोः 'निर्मोकत्वचं' कञ्चलिकां

मुञ्चति तन्न ज्ञायते। किंविशिष्टां मां निर्मोकत्वचं च? 'तदासक्तिनीमपि' तं नाथमासजामीत्येवंशीला ताम्, पक्षे तं सर्पं आसजतीत्येवंशीला तां तदासक्तामपीत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टां मां? 'लघ्वीम्, पक्षेऽल्पभाराम्। 'यद्वा' इत्युत्तरार्द्धम्। 'यद्वेति' हेतुज्ञाने दैवे 'विमुखीभावं दधति' सति प्रतिकूले सति 'आप्तोऽपि' अवश्यं कोऽपि 'अमित्रेत्' अमित्रमिवाचरेत् शत्रुर्भवतीत्यर्थः। एतत्समर्थनायाह—'तर्णस्य' वत्सस्य 'नियमने' बन्धने 'मातृजङ्घा' गोजङ्घा किमु कीलो न स्यात्? अपि तु स्यादेव। किल गोष्ठेषु दोग्धारः स्तन्यं पिबन्तं वत्सकं गोजङ्घायां बद्ध्वा गोदोहं कुर्वन्तीति स्थितिः अत्र यथा गौर्वत्सलापि विधिवशान्निजवत्सस्यैव जङ्घाद्वारेण बन्धहेतुर्भवति तथाऽसावपि भगवानाप्तोऽपि दैवप्रातिकूल्यान्मां मुक्तवानित्यर्थः। अत्राहिरिवेति निर्मोकत्वचमिवेत्युपमा। लघुमित्यादि श्लेषः। ज्ञोऽपीति विरोधः। न जाने इति निषेधः। यद्वेत्यर्थान्तरन्यासः। तत्र—"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।" (का० प्र० १०, ११०) "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया॥" (का० प्र० १०, १०६) इति। "सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥" (का० प्र० १०, १०९) इति। अथवा तर्णस्येत्यादि स्वभावोक्तिः। "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्॥" (का० प्र० १०, १११) इत्यादि॥ ७॥

तप्ताश्मेव स्फुटति हि हिरुक् प्रेयसो हृन्ममैत-
त्तत्कारुण्यार्णवमुपतदं प्रेषयाम्यब्दमेतम्।
मन्दं मन्दं स्वयमपि यथा सान्त्वयत्येष कान्तं
मत्सन्देशैर्दवमिव दवप्लुष्टमुत्सृष्टतोयैः॥ ८॥

एतन्मम 'हृत्' हृदयं 'हि' स्फुटं 'प्रेयसो हिरुग्' वल्लभं विना 'तप्ताश्मेव' तप्तपाषाण इव 'स्फुटति' विदीर्यते। 'तत्' तस्मात्कार-

णादहं 'एतं' पुरतो दृश्यमानं 'अब्दं' मेघं 'उपतदं' तस्य प्रेयसः समीपे प्रेषयामि । किंविशिष्टमब्दम्? 'कारुण्यार्णवं' कृपासमुद्रम् । यथा 'एषः' अब्दः 'मत्सन्देशैः' मम वाचिकैः स्वयमपि मन्दं मन्दं 'कान्तं' प्रेयांसं 'सान्त्वयति' सामप्रयोगपूर्वकं शमयति । कमिव? दवमिव, यथैष मेघः 'उत्सृष्टतोयैः' मुक्तजलैः 'दवप्लुष्टं' दवानलदग्धं दवं वनं सान्त्वयति शमयति । अत्र हिरुग्विनार्थे । प्रेयस इति "शेषे" (सि० २-२-८१) षष्ठी । उपतदमित्यत्र तस्य समीपमुपतदं "शरदादेः" (सि० ७-३-९२) इति समासान्तोऽत्प्रत्ययः । पश्चाद् "विभक्तिसमीपसमृद्धि-" (सि० ३-१-३९) इत्यादि सूत्रेणाव्ययीभावसमासः । ततः सप्तमीङिप्रत्ययस्य "सप्तम्या वा" (सि० ३-२-४) इति सूत्रेणाम् । अत्रोपमारूपकानुप्रासाः । अत्र रुष्टमिति कान्तस्य विशेषणमनुक्तमपि ज्ञेयम्, अन्यथा सान्त्वनायोगात् । तेन हीनपदत्वं नाम नालङ्कारदोषश्चिन्त्यः ॥८॥

ध्यात्वैवं सा नवघनघृता भूरिवोष्मायमाणा
युक्तायुक्तं समदमदनावेशतोऽविन्दमाना ।
अस्रासारं पुरु विसृजती वारि कादम्बिनीव-
द्दीना दुःखादथ दकमुचं मुग्धवाचेत्युवाच ॥ ९ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सा' राजीमती 'दकमुचं' मेघं 'मुग्धवाचा' मनोहरवचनेनेति वक्ष्यमाणयुक्त्या उवाच । किं कृत्वा? 'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण ध्यात्वा । किंविशिष्टा सा? 'नवघनघृता भूरिवोष्मायमाणा' नवश्चासौ घनश्च नवघनः, नवघनेन घृता सिक्ता नवघनसिक्तेति । ऊष्मायमाणा ऊष्माणं बाष्पमुद्वमन्ती । पुनः किंविशिष्टा सा? 'समदमदनावेशतो युक्तायुक्तमविन्दमाना' प्रमोदमोहसम्भेदो मद उच्यते । तत्रायं मेघो मत्सन्देशैः प्रियं सान्त्वयिष्यतीति प्रमोदः, मोहः पुनर्मूढता, तयोः सम्भेदः सङ्कमो मदस्तेन सह वर्तते यो मदनस्तस्यावेशः संरम्भस्तस्माद्युक्तं चायुक्तं च न

लभमाना। अन्योऽपि समदाया मदनाया मदिराया आवेश क्तायुक्तं न विन्दति। पुनः किंविशिष्टा? 'पुरु' प्रभूतं य भवति 'अस्रासारं' अस्राणामश्रूणामासारं वेगवन्तं वर्षं 'विसृज विशेषेण कुर्वती। किंवत्? 'कादम्बिनीवत्' यथा कादम्बिनी मे माला पुरु यथा भवति 'वारि' पानीयं विसृजति। किंविशिष्टा स दुःखादीना। अत्र घृतेति गृंघृं सेचने इति धातोः क्तप्रत्यये सति ऊष्मेतिं ऊष्मन् ऊष्माणमुद्वमति "फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने" (सि ३-४-३३) इति क्यङ्। "नाम्नोनोऽनह्नः" (सि० २-१-९१ नलोपः। "दीर्घश्चियङ्यक्क्येषु च" (सि० ४-३-१०८) इ दीर्घः। ऊष्मायते इति आनश्। अविन्दमानेति विदंती लाभे इ धातोः आनशि "तुदादेः शः" (सि० ३-४-८१) शप्रत्य "मुचादितृफदृफगुफशुभोऽभः शे" (सि० ४-४-९९) नोऽन्तः शेषं स्पष्टम्। अस्रशब्दोऽकारान्तोऽस्ति। अत्रोपमानुमानानुप्रासाः युक्तायुक्ताविचारणे साध्ये मेघं प्रति भाषणं साधनम्, यथा राजीमती युक्तायुक्ताज्ञा मेघं प्रति भाषणान्यथानुपपत्तेः॥ ९॥

अथ सा मेघं प्रति यज्जजल्प तत्प्रारभ्यते—

कच्चिद्धाराधर! तव शिवं वार्त्तशाली च देहः
सेवेते त्वां स्तनिततडितौ राजहंसौ सरोवत्।
अव्याबाधा स्फुरति करुणा वृष्टिसर्गे निसर्गा-
न्मार्गे दैव्ये गतिरिव रवेः स्वागतं वर्तते ते॥ १०॥

'कच्चिदिति' अभीष्टप्रश्ने। हे 'धाराधर!' हे मेघ! तव 'शिवं' कुशलं वर्तते?। 'च' अन्यत्तव देहो 'वार्त्तशाली' वर्त्तते? वार्त्तमारोग्यं तेन शाली शोभमानः। 'स्तनिततडितौ त्वां' गर्जितविद्युतौ भवन्तं सेवेते। किंवत्? 'सरोवत्' यथा सरो 'राजहंसौ' राजहंसश्च राजहंसी च सेवेते। हे मेघ! ते तव 'वृष्टिसर्गे' वृष्टिविधाने 'निसर्गात्' स्वभावात् 'अव्याबाधा' अवग्रहाद्यन्तरायरहिता करुणा स्फुरति।

कस्येव? 'रवेरिव' यथा रवेः सूर्यस्य गतिः 'दैव्ये मार्गे' आकाश-मार्गेऽव्याबाधा स्फुरति । 'ते' तव 'स्वागतं' सुखागमनं वर्तते ? । राजहंसावित्यत्र "पुरुषः स्त्रिया" (३-१-१२६) इति पुरुषशेषः, राजहंसीशब्दलोपः । दैव्ये देवानामयं दैव्यः, "देवाद् यञ्च" (सि० ६-१-२१) इति यञ् । अत्र दैव्ये मार्गे इत्याकाशवाचकत्वं सुरपथ इति प्रसिद्धेः । अत्रोपमापर्यायोक्तस्वभावोक्त्यनुप्रासाः । अव्याबाधेत्यादेः तव वृष्टेरन्तरायो नास्तीत्यर्थस्य पर्यायेण कथनात् तत्पर्यायोक्तम् । "पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन वस्तु यत् ।" (का० प्र० १०, ११५) ॥ १० ॥

अथ येन किमपि कार्यं कारयितुं चिन्त्यते, तस्य पूर्वं वर्णनं विधीयते इति राजीमत्यपि मेघं वर्णयति—

विश्वं विश्वं सृजसि रजसः शान्तिमापादयन् यः
सङ्कोचेन क्षपयसि तमःस्तोममुन्निह्नुवानः ।
स त्वं मुञ्चन्नतिशयनतस्त्रायसे धूमयोने!
तद्देवः कोऽप्यभिनवतमस्त्वं त्रयीरूपधर्त्ता ॥ ११ ॥

हे 'धूमयोने!' हे मेघ! यस्त्वं 'रजसः' रेणोः शान्तिं 'आपादयन्' उत्पादयन्नर्थात्पृथिवीं सिञ्चन् 'विश्वं' समस्तं 'विश्वं' जगत् 'सृजसि' निष्पादयसि । जलस्य साक्षात्सृष्ट्या तृणधान्यलतावृक्षादीनां तदुद्भव-त्वेन तिर्यग्पक्षिमनुष्यादीनां तृणादिभ्यो वृद्ध्या जनस्य साक्षात्पारम्प-र्येण च जगत्स्रष्टृत्वं रूढ्या न विरुद्धमिति । यस्त्वं 'संकोचेन' अभा-वलक्षणेन 'तमस्तोमं' अन्धकारसमूहं 'उन्निह्नुवानः' सन् उत्प्राबल्येन निह्नुवानः स्फेटयन् सन्, अर्थादवर्षन् विश्वं विश्वं 'क्षपयसि' क्षयं न-यसि संहरसीत्यर्थः । मेघस्य सङ्कोचे दुर्दिनाभावस्तदभावाच्च विश्व-क्षयः, अवृष्ट्या तावज्जलस्य साक्षात्क्षयः, तत्क्षयाच्च सकललोकक्षय इति साक्षात्पारम्पर्येण च घनस्य संहर्तृत्वमपि न विरुद्धम् । यस्त्वं 'अतिशयनतः' अत्यर्थं नम्रः स त्वं लोकरूढ्या गुडूचीसत्त्ववत्

सारं जलं मुञ्चन् विश्वं विश्वं 'त्रायसे' पालयसि । धाराधरश्चेत् सरलधाराधोरणीभिर्जलं मुञ्चति तदा राजानोऽपि प्रजा रक्षन्ति, सर्वे वर्णाः स्वस्वमर्यादां न त्यजन्ति, मातापितरौ सस्नेहमपत्यानि पुष्णन्ति, धर्मकर्माचारव्यवहारव्यवसायसौजन्यसौहार्दादीनि सर्वकार्याणि प्रवर्त्तन्त इति घनस्य पालकत्वमपि न निषेध्यम् । 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं 'अभिनवतमः' अत्यन्तनवीनः कोऽपि त्रयीरूपधर्त्ता देवो वर्त्तसे । अयं भावः—लोके परमेश्वरस्त्वेकोऽपि सृष्ट्यादित्रयं करोतीति कविरूढिर्वर्त्तते। यतो रघुः—"नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधात्मने नमः ॥" परमपरस्त्रयीरूपधर्त्ता देवो विषयाभिष्वङ्गरूपस्य रजसो रजोगुणस्य वृद्धिमुत्पादयन् ब्रह्मरूपेण विश्वं सृजति । तथा क्रोधरूपं तमोगुणं वर्द्धयन् रुद्ररूपेण विश्वं क्षपयति । तथा पुण्येच्छारूपं सत्त्वगुणं स्वीकुर्वन् विश्वं त्रायते । अतिशयेनान्यैश्च नम्यते । अयोनिश्च प्रोच्यते । त्वं पुनः प्रोक्तयुक्त्या एतद्वैलक्षण्येन विश्वसर्गादिषु प्रवर्त्तसे, अतिशयेन नमसि, धूमाद्योत्पद्यसे, इति कोऽपि नवीनस्त्वं त्रयीरूपधर्त्ता देव इति । अत्रानुप्रासश्लेषव्यतिरेकपर्यायोक्तदीपकोदात्ताद्यलङ्काराः । तत्र त्रयीरूपोपमानादुपमेयस्याधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरेकः । "उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।" (का० प्र० १०, १०५) इति । रजसः शान्तिमापादयन् सङ्कोचेनेत्यादिना पृथ्वीसेचनावर्षणलक्षणार्थपर्यायकथनात्पर्यायोक्तम् । बह्वीषु क्रियास्वेककर्तृत्वाद्दीपकम् । मेघस्य सर्वलोकविख्यातदेवत्रयीतोऽप्याधिक्यप्रतिपादनेनोदात्तम्, "उदात्तं वस्तुनः संपत्" (का० प्र० १०, ११५) इति ॥ ११ ॥

अथ विभक्तिसप्तकप्रयोगेण मेघस्तवनाय वृत्तद्वयमाह—

त्वं जीमूत! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रसृतिसदृशौ स्वे दृशौ नो विधत्ते ।

दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै ॥ १२ ॥
कामं मध्येभुवनमनलङ्कारकान्ता अनु त्व-
न्मन्वस्येव स्मरति च तवागोपगोपं जनोऽयम् ।
न्यासीचक्रे भवति निखिला भूतसृष्टिर्विधात्रा
तत्त्वां भाषे किमपि करुणाकेलिपात्रावधेहि ॥ १३ ॥

हे 'जीमूत!' हे मेघ! त्वं 'अनन्यसाध्योपकारैः प्रथितमहिमा' वर्त्तसे, न अन्यैः समुद्रादिभिरपि साध्या अनन्यसाध्या उपकाराः सचराचरजीवलोकसेचनभीष्मग्रीष्मातपोपशमनसकलतृणधान्यनिष्पादनादयस्तैः प्रथितो विख्यातो महिमा यस्येति। कः पुमान् त्वां वीक्ष्य स्वे दृशौ प्रसृतिसदृशौ नो विधत्ते?। कुब्जितः पाणिः प्रसृतिरुच्यते। तौ कल्पद्रुमसुरमणी त्वया दानादधोऽक्रियेतां जितावित्यर्थः। नात्तौ सर्वलोकप्रसिद्धौ त्वया। कः पुमांस्तुभ्यं न स्पृहयति?। किंविशिष्टाय तुभ्यम्? 'जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै' जगज्जन्तूनां जीवातुर्जीवनौषधं लक्ष्म्यो गर्जितविद्युज्जलादिका यस्य तस्मै। लक्ष्मीशब्दस्य बहुत्वे वर्त्तमानत्वात् "पुमनडुन्नौपयोलक्ष्म्या एकत्वे" (सि० ७–३–१७३) इत्यनेन कच्। तथा ङ्यन्तत्वाभावात् "गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशिस–" (सि० २–४–९६) इत्यादिना ह्रस्वो न। ततः पुल्लिङ्गविशेषणत्वेऽपि लक्ष्मीशब्दस्य स्त्रियां वर्तमानत्वेन चतुर्थ्येकवचनस्य "स्त्रीदूतः" (सि० १–४–२९) इति दैआदेशे लक्ष्म्यै इति प्रयोगः। प्रसृतिसदृशावित्यत्र "त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाव्याप्ये दृशष्टक्सकौ च" (सि० ५–१–१५२) इति क्विप्। सदृश्शब्दो व्यञ्जनान्तः। तुभ्यमित्यत्र "स्पृहेर्व्याप्यं वा" (सि० २–२–२६) इति चतुर्थी। अत्रोदात्तस्वभावोक्त्यनुप्रासाः ॥१२॥ काममिति। हे मेघ! 'मध्येभुवनं' भुवनस्य मध्ये 'अनलङ्कारकान्ता' अलङ्कारं विना कान्ताः सुभगाः 'त्वदनु' भवतः पश्चात्। त्वदिति "प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्द-

बहिरारादितरैः" (सि० २-२-७५) इति पञ्चमी । 'आगोपगोपं' अयं जनस्तव मन्त्रस्येव स्मरति । यथा मन्त्रः स्मर्यते तथेत्यर्थः । गां पृथ्वीं पातीति गोपो राजा, गाः पशून् पातीति गोपो गोपालः, गोपाश्च गोपाश्च गोपगोपाः, आङ्मर्यादायाम्, गोपगोपेभ्य आ आगोपगोपं आगोपालभूपालमिति । 'विधात्रा' ब्रह्मणा निखिला 'भूतसृष्टिः' प्राणिसृष्टिः 'भवति' त्वयि 'न्यासीचक्रे' निहिता त्वय्यायत्तीकृता, त्वं चेज्जीवयसि तदा जीवति नान्यथा इत्यर्थः । यथान्योऽपि विश्वासार्हे वस्तु न्यासीकरोति । यतस्त्वमेवं परोपकाराद्यनणुगुणैरसाधारणः 'तत्' तस्मात्कारणादहं त्वां किमपि 'भाषे' वच्मि । हे करुणाकेलिपात्र 'अवधेहि' सावधानो भव । मध्येभुवनमिति भुवनस्य मध्ये मध्येभुवनं "पारे मध्येऽग्रेन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३-१-३०) इत्यव्ययीभावः । तव मन्त्रस्येवेति "स्मृत्यर्थदयेशः" (सि० २-२-११) इति कर्मस्थाने षष्ठी । आगोपगोपमिति "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३-१-३२) इति पञ्चम्यन्तोऽव्ययीभावः । अत्र विभावनोपमानपर्यायालङ्काराः । अनलङ्कारेत्यत्र विभावना, "क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥" (का० प्र० १०,१०७) भूतसृष्टेर्न्यासीकरणेन दुःखितायाः ममापि हितं तव कर्तुं योग्यमिति पर्यायकथनात्पर्यायोक्तम् ॥१३॥

मेघस्याग्रे राजीमती स्वस्वरूपप्रस्तावनार्थं श्रीनेमिचरितं मूलादाह—

श्रीमान् वंशो हरिरिति परां ख्यातिमापत्क्षितौ य-
स्तस्मिन् मूर्त्ता इव दश दिशां नायका ये दशार्हाः ।
तेषामाद्यः क्षितिपतिगुरुः श्रीशिवाप्रेयसी च
प्राज्ञो द्वैधं सुकृतविजयी सुप्रजाः श्रीसमुद्रः ॥ १४ ॥

यः श्रीमान् वंशः 'क्षितौ' पृथिव्यां हरिरिति परां 'ख्यातिं' प्रसिद्धिं 'आपत्' हरिवंश इति प्रसिद्धो बभूवेत्यर्थः । 'तस्मिन्'

वंशे 'मूर्त्ताः' मूर्तिमन्तः 'दिशां नायकाः' दिक्पाला इव ये दश दशार्हाः, वर्त्तन्ते इत्यध्याहारः । 'च' अन्यत् 'तेषां' दशार्हाणां 'आद्यः' प्रथमः श्रीसमुद्रोऽस्ति । किंविशिष्टः ? 'क्षितिपतिगुरुः' क्षितिपतिषु नृपेषु गुरुः श्रेष्ठः । पुनः किंविशिष्टः ? श्रीशिवाप्रेयसी' श्रीशिवादेवी नाम्नी प्रेयसी पत्नी यस्यासौ श्रीशिवाप्रेयसी । ईयो बहुव्रीहित्वाद् "गोश्चान्ते ह्र–"(सि० २–४–९६) इत्यादिना न ह्रस्वः । ततः "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि० १-४-४५) सिलोप एव । पुनः किंविशिष्टः ? 'प्राज्ञः' निपुणः, अथवा प्रकृष्टा आज्ञा यस्य स तथा । 'द्वैधं' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां 'सुकृतविजयी' सुकृतेन पुण्येन विजयी विजयवान् धर्मविजयीत्यर्थः । पक्षे सुष्ठु आनुकूल्येन कृतः सुकृतः, सुकृतो विजयो विजयशब्दो विद्यते यस्य श्रीसमुद्रशब्दस्य स तथा श्रीसमुद्रविजय इत्यर्थः । द्वैधं 'सुप्रजाः' शोभना प्रजाः लोकः सन्ततिर्वा यस्य सः । "प्रजाया अस्" (सि० ७–३–१३७) इत्यनेन सुप्रजस् जातम् । द्वैधं श्रीसमुद्रः श्रिया समुद्रो यद्वा श्रीसमुद्र इति नाम । अत्रोत्प्रेक्षारूपकश्लेषानुप्रासाः ॥ १४ ॥

सारस्वप्नैर्मनुपरिमितैः सूचितस्तस्य सूनुः
श्रीमान्नेमिर्गुणगणखनिस्तेजसां राशिरस्ति ।
यं द्वाविंशं जिनपतिमिह क्षोणिखण्डे प्रबुद्धा
दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं दिशन्ति ॥ १५ ॥

'तस्य' श्रीसमुद्रस्य सूनुः श्रीमान्नेमिरस्ति । किंविशिष्टः ? मनुपरिमितैः सारस्वप्नैः 'सूचितः' कथितः । मनवश्चतुर्दश तत्परिमितैश्चतुर्दशभिरिति । पुनः किंविशिष्टः ? 'गुणगणखनिः' गुणगणानां खनिरिव गुणगणखनिः । तेजसां राशिः समूह इव । 'इह क्षोणिखण्डे' 'प्रबुद्धाः' विद्वांसः 'यं' भगवन्तं द्वाविंशं जिनपतिं 'दिशन्ति' कथयन्ति । किंविशिष्टं यम् ? 'दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं' दिव्यः स्वर्गसम्बन्धी प्रधानो वा यो ज्ञानातिशयस्तेन कलितान्य-

शेषाणि वस्तुनि येन स तम् । अत्र यद्यपि भगवतोऽवधिज्ञानित्वेन तदा गार्हस्थ्येऽशेषवस्तुज्ञानं नास्ति तथापि "भाविनि भूतवदुपचारः" इत्यजिह्मब्रह्मलीलानिंस्तुषवैराग्योन्मेषमुख्यकारणैरवश्यंभावितया सर्वलोकेभ्योऽप्यधिकतया च तस्य सर्वज्ञत्वमेव प्रत्यक्षं विवक्षितम् । द्वाविंशमत्र द्विविंशतिः । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः, "द्वित्र्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक्शतादनशीतिबहुव्रीहौ" (सि० ३–२–९२) द्वा आदेशः । द्वाविंशतेः पूरणो द्वाविंशः "संख्यापूरणे डट्" (सि० ७–१–१५५) "विंशतेस्तेर्डिति" (सि० ७–४–६७) तिलोपः । "डित्यन्त्यस्व–" (सि० २–१–११४) । अत्र रूपकभाविकानुप्रासाः । दिव्यज्ञानेति भाविकं, "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः । तद्भाविकम्" । (का०प्र०१०,११४) इति॥१५॥

यस्य ज्ञात्वा जननमनघं कम्पनादासनाना-
मास्यां तासामिव न सहतां पूज्यपूजाक्षणेऽस्मिन् ।
दिक्कन्याः षट्शरपरिमिताः साङ्गजायाः सवित्र्याः
सम्यक् चक्रुः कनककदलीसद्मगाः सूतिकर्म ॥ १६ ॥

षट्शरपरिमिताः 'दिक्कन्याः' दिक्कुमार्य आसनानां कम्पनाद् 'यस्य' भगवतः 'अनघं' निष्पापं 'जननं' जन्म ज्ञात्वा 'साङ्गजायाः' सपुत्रायाः 'सवित्र्याः' मातुः सम्यक् सूतिकर्म चक्रुः । शराः पञ्च "अङ्कानां वामतो गतिः" इति गणनात् षट्शरेति षट्पञ्चाशत् । किंविशिष्टानामासनानाम् ? उत्प्रेक्ष्यते—'अस्मिन्' विवक्षिते पूज्यपूजायाः क्षणे प्रस्तावे 'तासां' दिक्कन्यानां 'आस्यां' उपवेशनं न सहतामिव । अस्मिन् पूज्यपूजाक्षणे एता उपविश्य कथं स्थिताः सन्ति ? इत्यसहमानानीवासनानि कम्पितानीति भावः । किंविशिष्टा दिक्कन्याः ? 'कनककदलीसद्मगाः' सुवर्णरम्भागृहगताः । सहतामित्यत्र षहण् मर्षणे इति चौरादिकधातुः । "युजादेर्न वा" (सि० ३–४–१८) इति णिविकल्पः । अत्रोत्प्रेक्षास्वभावोक्त्यनुप्रासाः ॥१६॥

जन्मे यस्य त्रिजगति तदा ध्वान्तराशेर्विनाशः
प्रोद्योतश्चाभवदतितरां भास्वतीवाभ्युदीते ।
अन्तर्दुःखोत्करमुरु सुखं नारका अप्यवापुः
पारावारे विरससलिले स्वातिवारीव शुक्ताः ॥ १७ ॥

'तदा' तस्मिन् काले 'यस्य' भगवतः 'जन्मे' जाते सति ध्वान्तराशेर्विनाशः 'च' अन्यत् 'अतितरां' अत्यर्थं 'प्रोद्योतः' प्रकाशश्चाभवत् । कस्मिन्निव? 'भास्वतीव' यथा भास्वति सूर्येऽभ्युदीते सति ध्वान्तराशेर्विनाशो भवति प्रोद्योतश्च । नारका अपि 'अन्तर्दुःखोत्करं' दुःखोत्करस्य मध्ये 'उरु' गुरुतरं सुखं 'अवापुः' प्राप्ताः । का इव? 'शुक्ता इव' यथा शुक्ताः 'विरससलिले' क्षारनीरे 'पारावारे' समुद्रे 'स्वातिवारि' स्वातिनक्षत्रसंबन्धि वारि जलं प्राप्नुवन्ति । जन्मशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । अभ्युदीते इत्यत्र ईङच् गतौ, ईङ्धातुः अभि उत्पूर्वः क्तप्रत्ययान्तः । दुःखोत्करस्यान्तरन्तर्दुःखोत्करम्, "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३-१-३०) इति समासः। अत्र पर्यायविरोधोपमानानि। "एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा ।" (का० प्र० १०, ११७) अन्तर्दुःखोत्करमित्यत्र विरोधो द्रव्यगुणयोः ॥ १७ ॥

भक्तिप्रह्वा भवनपतयो विंशिनो व्यन्तरेन्द्रा
द्वात्रिंशच्चोपनव तिविषाधीशितारो रवीन्दू ।
सङ्गत्य स्वःशिखरिशिखरे ते चतुःषष्टिरिन्द्रा
जन्मस्नात्रोत्सवमतिहरि स्वामिनो यस्य तेनुः ॥ १८ ॥

ते चतुःषष्टिरिन्द्राः 'स्वःशिखरिशिखरे' स्वः स्वर्गस्तस्य शिखरी मेरुस्तस्य शिखरे शृङ्गे 'सङ्गत्य' मिलित्वा यस्य स्वामिनो जन्मस्नात्रोत्सवं 'अतिहरि तेनुः' विस्तारयामासुः, हरीणामिन्द्राणां ख्यातिर्यथाभवतीत्यतिहरि, इन्द्राणां यादृशः कृतो ज्ञायते तादृशः कृत इत्यर्थः । ते के? 'विंशिनः' विंशतिमात्राः 'भवनपतयः' असुरकु-

मारप्रमुखेन्द्राः 'च' अन्यद् द्वात्रिंशद् व्यन्तरेन्द्राः 'उपनव' दश 'तिविषाधीशितारः' तिविषस्य स्वर्गस्याधीशितारः स्वामिनो वैमानिकदेवेन्द्राः 'रवीन्दू' सूर्यचन्द्रौ। किंविशिष्टाः? 'भक्तिप्रह्वाः' भक्तौ प्रह्वाः परायणाः। विंशिन इति विंशतिर्मानमेषां विंशिनः, "डिन्" (सि० ७–१–१४७) इति डिन्प्रत्ययः, इन्, "विंशतेस्तेर्डिति" (सि० ७–४–६७) तिलोपः। उप समीपे नव येषां येभ्यो वा उपनव, "अव्ययम्" (सि० ३–१–२१) इत्यनेन बहुव्रीहिः। अत्र यद्यपि उपनवशब्देनाष्टौ दश च लभ्यते परमत्र दशसंख्यया प्रयोजनमिति दशसंख्यार्थो गृहीतः। अतिहरीत्यत्र "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययाऽसंप्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम्" (सि० ३–१–३९) इत्यव्ययीभावः। अत्रानुप्रासस्वभावोक्त्युदात्ताः॥ १८॥

उच्चस्थानं दुदुवुरिव यं द्रष्टुकामा ग्रहास्ते
स्वस्यामान्तःकरणकरणैः काममाशाः प्रसेदुः।
रत्नस्वर्णप्रकरममराः सौधपूरं त्ववर्षन्
विश्वे लोकाः प्रमदमदधुर्यस्य पुण्येऽवतारे॥ १९॥

'यस्य' भगवतः 'पुण्ये' पवित्रेऽवतारे ग्रहाः 'उच्चस्थानं' उच्चभवनं उच्चांशं वा 'दुदुवुः' गताः। "अजवृषमृगाङ्गनाकर्कमीनवणिजांशकेष्विनाद्युच्चाः। दशशिख्यष्टाविंशतितिथीन्द्रियत्रिघनविंशेषु॥" इति ग्रहाणामुच्चभवनानि। उत्प्रेक्ष्यते–'यं' भगवन्तं 'द्रष्टुकामा इव' द्रष्टुं कामोऽभिलाषो येषां ते द्रष्टुकामाः, "तुमश्च मनःकामे" (सि० ३–२–१४०) इति मलोपः। अन्योऽपि यः किञ्चिद्दिदृक्षुः स्यात् स उच्चस्थानमधिरोहति। 'आशाः' दिशः 'स्वस्य' ज्ञातेः 'अन्तःकरणकरणैः' अन्तःकरणं चित्तं करणानीन्द्रियाणि तैः 'अमा' सह 'कामं' अत्यर्थं 'प्रसेदुः' प्रसन्ना बभूवुः। भगवतोऽवतारे दिशो रजोवार्दलाद्यभावेन प्रसन्ना जाताः। स्वस्य स्वजनवर्गस्य च

मानसमिन्द्रियाणि च प्रसन्नानि जातानीत्यर्थः । स्वशब्द आत्मात्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः, तेष्वत्र ज्ञातिवाची गृहीतः । 'तु' पुनः 'अमराः' देवा रत्नस्वर्णप्रकरं 'सौधपूरमवर्षन्' सौधं यावता पूर्यते तावन्तं वृष्टा इत्यर्थः । सौधं यावता पूर्यते तावद्वर्षणं पूर्वं, "वृष्टिमाने उलुक् चास्य वा" (सि० ५-४-५७) णम्प्रत्ययः । 'विश्वे' समस्ता लोकाः 'प्रमदं' हर्षमदधुः । अत्रोत्प्रेक्षासहोक्तिसमुच्चयानुप्रासाः । स्वस्यामान्तरित्यादि सहोक्तिः, "सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥" (का० प्र० १०, ११२) तथा "समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रिया ॥" (का० प्र० १०, ११६) ॥ १९ ॥

ये ये भावाः प्रियसुतकृते प्रक्रियन्ते प्रसूभि-
स्तांस्तांस्तस्यातनिषत हरिप्रेरिता देव्य एव ।
नानारूपाः सदृशवयसो हंसवद्वीचयस्तं
देवा एवानिशमरमयत्केलिवापीषु भक्त्या ॥ २० ॥

'प्रसूभिः' मातृभिः 'प्रियसुतकृते' अभीष्टपुत्रवृद्ध्यर्थं ये ये 'भावाः' स्नपनमण्डनक्रीडनादयः 'प्रक्रियन्ते' प्रारभ्यन्ते 'हरिप्रेरिताः' इन्द्रादिष्टाः 'देव्य एव' अप्सरस एव 'तस्य' भगवतः 'तांस्तान्' भावान् 'अतनिषत' व्यस्तारयन् । हरिप्रेरिता देवा एव केलिवापीषु भक्त्या 'तं' भगवन्तं 'अनिशं' निरन्तरं अरमयन् । किंविशिष्टा देवाः? 'नानारूपाः' नानाप्रकाराणि रूपाणि येषां ते नानारूपाः । पुनः किंविशिष्टाः? 'सदृशवयसः' सदृशं भगवतस्तुल्यं वयो येषां ते सदृशवयसः । किंवत्? हंसवत् । यथा हरिप्रेरिता वीचयः केलिवापीषु भक्त्या विच्छित्त्या हंसं रमयन्ति । हरिर्वायुः, 'हरिर्दिवाकरसमीरयोः ॥ यमवासवसिंहांशुशशाङ्ककपिवाजिषु । पिङ्गवर्णे हरिद्वर्णे भेकोपेन्द्रशुकाहिषु ॥" (हे० अ० ४५०-४५१) इत्यनेकार्थः । किंविशिष्टा वीचयः ? 'नानारूपाः' अनेकप्रकाराः । पुनः किंविशिष्टा

वीचयः? सदृशाः पतनोत्पतनप्लवनादिना वीचीनां तुल्या वयसः पक्षिणो यासु ताः । अत्र श्लेषोपमानोदात्ताः ॥ २० ॥

अस्नातोऽपि स्फटिकविमलोऽभूषितः कान्तरूपोऽ-
स्तन्यापायी प्रचितकरणोऽशास्त्रदृश्वा मनीषी ।
किं किं ब्रूमः शुचिरुचिरसौ शैशवेऽपि प्रकारे-
णापत्पोषं त्वमिव मरुता सर्वलोकोत्तरेण ॥ २१ ॥

हे मेघ! वयं 'किं किं ब्रूमः?' आश्चर्यपूरिताः किमपि वक्तुं न शक्नुम इत्यर्थः । 'असौ' भगवान् 'शैशवेऽपि' बाल्येऽपि सर्वलोकोत्त-रेण प्रकारेण पोषं आपत् । सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोकाः सर्वलोकेभ्यः उत्तर उत्कृष्टः सर्वलोकोत्तरः । तमेव विशेषणद्वारेण प्रकारमाह— किंविशिष्टः? अस्नातोऽपि स्फटिकविमलः,अभूषितस्सन् कान्तरूपः, तथाविधसहोत्थातिशयविशेषाद्भगवद्देहस्य मलस्वेदादिदोषोज्झितत्वा-दद्भुतरूपत्वाच्च । 'अस्तन्यापायी प्रचितकरणः' न स्तन्यमापिब-तीत्येवंशीलः सन् "अजातेः शीले" (सि० ५-१-१५४) णिन्-प्रत्ययः । प्रचितान्युपचितानि करणानीन्द्रियाणि यस्य सः, निजाङ्गु-ष्ठपीयूषपानेनैव पुष्टत्वात् । पुनः कथंभूतः? 'अशास्त्रदृश्वा' न शास्त्रं दृष्टवानित्यशास्त्रदृश्वा सन् "दृशः क्वनिप्" (सि० ५-१-१६६) क्वनिप्प्रत्ययः, वन् । 'मनीषी' विद्वान्, जन्मतोऽपि ज्ञानत्रयकलित-त्वात् । क इव? 'त्वमिव' यथा त्वं 'सर्वलोकोत्तरेण' सर्वलोके उत्तरेण उत्तरदिगुद्भवेन सर्वलोकप्रधानेन वा 'मरुता' वायुना पोषं पुष्टिं प्राप्नोषि । किंविशिष्टोऽसौ? 'शुचिरुचिः' पवित्रकान्तिः । शु-चिरुचिः शुचौ आषाढमासे रुचिर्यस्यासौ शुचिरुचिः । एतावता बाल्येऽपि भगवतः समस्तलोकासाधारणस्वरूपमुक्तम् । अत्र विभा-वनाश्लेषोपमालङ्काराः ॥ २१ ॥

लोकातीतोल्लसितसुखमं यस्य बाल्येऽपि रूपं
तस्य स्वाम्नि श्वयति पुरुहे यौवने केन वर्ण्यम् ।

यस्यास्ताधं भवनमुदधेस्तैषदिष्टेऽप्यतार्यं
तस्य ग्रैष्मे तपति तपने केन शक्यं तरीतुम् ॥ २२ ॥

'यस्य' भगवतो रूपं बाल्येऽपि 'लोकातीतोल्लसितसुखमं' वर्त्तते, लोकमतीतातिक्रान्ता उल्लसिता सुखमा अतिशायिनी शोभा यस्य। 'तस्य' भगवतो रूपं यौवने केन वर्ण्यम्? अपि तु न केनापि। क्व सति? 'पुरुहे' प्रभूते 'स्थाम्नि' बले 'श्वयति' वर्द्धमाने सति। यस्य 'उदधेः' समुद्रस्य 'भवनं' पानीयं 'तैषदिष्टेऽपि' पौषमासकालेऽपि 'अतार्यं' तरीतुमशक्यम्, तस्य उदधेर्भवनं 'ग्रैष्मे' ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनि 'तपने' सूर्ये तपति केन तरीतुं शक्यम्। पौषे तु पयस्तोकं भवति, ग्रीष्मे तु ज्येष्ठाषाढयोर्वेलावृद्ध्या पयोवृद्धिः। ग्रीष्मस्यायं ग्रैष्मः, "भर्त्तुसन्ध्यादेरण्" (सि० ६-३-८९) अणप्रत्ययो वृद्धिः। अत्र दृष्टान्तानुप्रासहेतवः ॥ २२ ॥

पद्मं पद्भ्यां सरलकदलीकाण्ड ऊर्वोर्युगेन
स्वर्वाहिन्याः पुलिनममलं नेमिनः श्रोणिनैव।
शोणो नाभ्याञ्चति सदृशतां गोपुरं वक्षसा च
द्रुद्रोः शाखानवकिशलये बाहुपाणिद्वयेन ॥ २३ ॥
पूर्णेन्दुः श्रीसदनवदनेनाब्जपत्रे च दृग्भ्यां
पुष्पामोदो मुखपरिमलै रिष्टरत्नं च तन्वा।
वर्ण्येऽर्थौघे क्वचिदुपमितिं दद्युरेवं बुधाश्चे-
देतस्याङ्गैर्भवति उपमाधिक्यदोषस्तथापि ॥२४॥ युग्मम्॥

'चेद्' यदि बुधाः 'क्वचित्' प्रदेशे 'अर्थौघे' पदार्थसमूहे 'वर्ण्ये' वर्णनीये सति एतस्य 'अङ्गैः' अवयवैः एवंप्रकारेण 'उपमितिं' उपमानं दद्युस्तथापि उपमाधिक्यदोषो भवति। एवमिति किम्? 'पद्मं' कमलं नेमिनः 'पद्भ्यां' चरणाभ्यां सदृशतां 'अञ्चति' गच्छति सरलकदलीकाण्डो नेमिन ऊर्वोर्युगेन सदृशतामञ्चति। 'स्वर्वाहिन्याः' गङ्गायाः 'अमलं' निर्मलं पुलिनं नेमिनः 'श्रो-

णिनैव' कटीतटेनैव सदृग् स्वः स्वर्गस्तस्य वाहिनी नदी तस्याः । श्रोणिशब्दः पुंस्त्रीलिङ्गः । 'शोणः' ह्रदो नेमिनो नाभ्या सदृशताममञ्चति । 'च' अन्यत् 'गोपुरं' प्रतोलीद्वारं नेमिनः 'वक्षसा' हृदयेन सदृशताममञ्चति । 'द्युद्रोः' कल्पवृक्षस्य शाखानवकिशलये नेमिनो बाहुपाणिद्वयेन सदृशतां मञ्चति, "अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः" इति न्यायादञ्चतः । शाखा बाहुद्वयेन नवकिशलयं पाणिद्वयेनेत्यर्थः । द्यौः स्वर्गस्तस्य द्रुर्वृक्षः ॥ २३ ॥ 'पूर्णेन्दुः' पूर्णचन्द्रो नेमिनः श्रीसदनवदनेन सदृशताममञ्चति । 'च' अन्यत् 'अब्जपत्रं' कमलदलं नेमिनो 'दृग्भ्यां' लोचनाभ्यां सदृशताममञ्चति । 'पुष्पामोदः' पुष्पपरिमलो नेमिनो मुखपरिमलैः सदृशताममञ्चति । रिष्टरत्नं च नेमिनस्तन्वा सदृशताममञ्चति । रिष्ट–अरिष्ट इति शब्दद्वयमस्ति । अयं भावः—"किल श्रीअर्हतां रूपं पादाभ्यामारभ्य चटद्वर्ण्यते । अन्येषां तु शीर्षादारभ्य पतत् ।" इति वृद्धाः । परमेवमपि भगवत्पाद्यवयवानां यदि पद्मादीन्युपमानानि दीयन्ते तदा तडाग इव समुद्रः खद्योत इव सूर्य इत्यादिवद्धीनोपमादोषः स्याद्भगवत्पादादिभ्यः पद्मादीनामतिहीनत्वात् । अत एतद्दोषपरिजिहीर्षया पण्डिताः क्वचित्प्रदेशे सम्मिलिताः सन्तः 'उपमानमुपमेयाद्विशिष्टतरं स्यात्' इतिन्यायात् पद्मादीन् पदार्थान् वर्ण्यान् कृत्वा श्रीनेमिनः पाद्यवयवानुपमानत्वेन स्थापयन्ति । यथा पद्मं पद्भ्यामित्यादि । तथापि उपमानस्यात्यन्ताधिकत्वेनोपमाधिक्यदोषः स्यात् । यथा—"अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते । युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥" इत्यादिवत् । अतः श्रीनेमिरूपं कथमपि वर्णयितुं न शक्यते इति समर्थितम् । पद्भ्यामित्यादिषु "तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ" (सि० २–२–११६) इति तृतीया भवति । उपमेत्यत्र "ह्रस्वोऽपदे वा" (सि० १–२–२२) इति ह्रस्वस्य ह्रस्वः

असन्धिश्च । अत्र दीपकोपमापर्यायोक्तानुप्रासाः । परमार्थतो भगवतो रूपमसाधारणमित्यर्थस्य प्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥ २४ ॥

अथ गुणवर्णनायाह—

भाण्डागारं गतभयममुं वीक्ष्य हृष्टः समस्तान्
धैर्यौदार्यादिकगुणमणीनत्र वेधा न्यधत्त ।
तान् किं वक्तुं गणयितुमथ प्रेक्षितुं भूर्भुवःस्वः-
प्रष्ठा देवा मुखकरदृशां साक्षिणोऽधुः सहस्रं ॥ २५ ॥

'वेधाः' ब्रह्मा 'अत्र' भगवति समस्तान् धैर्यौदार्यादिकगुणमणीन् 'न्यधत्त' न्यासीचक्रे । किंविशिष्टो वेधाः ? 'अमुं' भगवन्तं 'गतभयं' निर्भयं 'भाण्डागारं' कोशं वीक्ष्य हृष्टः । 'भूर्भवःस्वःप्रष्ठा देवाः' भूर्भुवस्स्वर्शब्दाः क्रमेण पातालव्योमस्वर्गवाचकास्तेषु प्रष्ठा मुख्याः 'देवाः' शेषसूर्येन्द्राः । 'तान्' धैर्यौदार्यादिकगुणमणीन् किं वक्तुं गणयितुं 'अथ' अनन्तरं प्रेक्षितुं साक्षिणः सन्तो मुखकरदृशां सहस्रं 'अधुः' धरन्ति स्म । अयं भावः—किलैतानेतावतोऽनन्तान् गुणान् सुस्थाने न्यस्यामीति चिन्तार्त्तः सन् धाता श्रीनेमिनमभयभाण्डागारं वीक्ष्य हृष्टो यदा तत्र नाथे तान् समस्तान् गुणान् न्यासे मुमोच तदा "न खलु सुप्रतिष्ठद्वित्रसाक्षिसमक्षमनिरीक्षितो महान्यासो महत्त्वभीरुणा स्वीकार्यः" इति नीतिं प्रमाणयता भगवता श्रीनेमिना त्रिलोकनाथेन त्रिलोकप्रधानाः शेषसूर्येन्द्राः साक्षिणः कृताः । ते चानन्तगुणा एकमुखेन वक्तुमेककरेण गणयितुं द्वाभ्यां दृग्भ्यां प्रेक्षितुं न शक्यन्ते । अतः शेषाहिरेको द्वौ त्रय इत्यादि गुणसंख्यां वक्तुं सहस्रमुखोऽजनि । सूर्यः पृथक् पृथग् न्यस्य गुणान् गणयितुं सहस्रकरो जातः । इन्द्र उपरिस्थो यथा सूर्यो गणयति तथा शेषो वक्ति नवेति द्रष्टुं सहस्राक्षोऽभूदिति । अत्रातिशयोक्तिपरिकररूपकोत्प्रेक्षायथासङ्ख्यपर्यायानुप्रासाः । भाण्डागारमित्यतिशयोक्तिः । "निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यद् ।" (का० प्र० १०, १००)

इत्यादि । गतभयमिति साकूतविशेषणेन परिकरः । गुणमणीनिति रूपकम् । एतावता भगवति सर्वेऽप्युत्तमगुणा वर्तन्ते इत्यर्थप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् । तान् किं इत्याद्युत्प्रेक्षा । भूर्भुवःस्वःप्रष्ठा देवा इति प्रतिपाद्ये वक्तुमित्यादि मुखेत्यादि क्रमेण प्रतिपादनाद्यथासङ्ख्यम् ॥ २५ ॥

व्योमव्याजादहनि कमनः पट्टिकां सम्प्रमृज्य
स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ ।
रुग्लेखन्या गणयति गुणान् यस्य नक्षत्रलक्षा-
दङ्कांस्तन्वन्न खलु भवतेऽद्यापि तेषामियत्ताम् ॥ २६ ॥

'कमनः' ब्रह्मा 'अहनि' दिने व्योमव्याजात् पट्टिकां सम्प्रमृज्य स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ रुग्लेखन्या नक्षत्रलक्षादङ्कान् तन्वन् 'यस्य' भगवतो गुणान् गणयति । 'खलु' निश्चितमद्यापि 'तेषां' गुणानां 'इयत्तां' पारं 'न भवते' न लभते । भूङ्धातुरात्मनेपदी प्राप्त्यर्थे विकल्पेन णिङन्तोऽस्ति । यथा "भूङः प्राप्तौ णिङ्" (सि० ३–४–१९) भावयते भवते रूपद्वयम् । स्फूर्जच्च तत् लक्ष्म च स्फूर्जल्लक्ष्म लाञ्छनमेवालकाः केशा यत्र तत् स्फूर्जल्लक्ष्मालकमेवंविधं शश्येव खटीपात्रमादाय गृहीत्वा । रुक् कान्तिः सैव लेखनी तया । अयं भावः—ब्रह्मा यस्य गुणसङ्ख्यां कर्तुकामो दिवसे आकाशपट्टिकां मृष्ट्वा निर्जने एकाग्रचित्तत्वाद्रात्रौ स्फूर्जल्लाञ्छनकेशगुच्छकं चन्द्ररूपं खटीपात्रं गृहीत्वा चन्द्रनिर्गतकिरणदण्डलेखनीभिः शनैः परिदृश्यमानतारकमिषादेको द्वौ त्रय इत्याद्यङ्कान् कुर्वंश्च भगवतो गुणान् गणयितुं लग्नः । एवमाकाशपट्टिका पूर्णा परं गुणानां पारं न लभते । ततः पुनः प्रातराकाशपट्टिकां मृष्ट्वा रात्रौ तथैव गुणान् गणयति परं पारं नाप्नोति । अतः पुनः पुनराकाशपट्टिकामार्जनादि विधत्ते परं गुणानामद्यापि सङ्ख्यापारं नाप्नोति । यत एवमतो भगवतोऽनन्ता गुणा इति । अत्र रूपकाप-

ह्नुतिकाव्यलिङ्गपर्यायोक्तोदात्ताः । तत्र व्योमव्याजान्नक्षत्रलक्षादित्यपह्नुतिः, "प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।" (का० प्र० १०, ९६) संख्यापारागमने यन्नक्षत्रमिषाद्गणनं हेतुर्वाक्यार्थतयोपात्त इति काव्यलिङ्गम्, गुणानन्त्यार्थप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥

अथ भगवतो रूपस्य गुणानां च विशेषवर्णनायाह—

यैस्तत्तुल्यं पुनरपि परं रूपमाप्नोति सत्तां
नूनं नान्तर्भुवनमणवः सन्ति ते क्वापि केऽपि ।
ते नो विज्ञा अपि गुणगणः स्तूयते यैरगण्यः
कारं कारं नवनवनवान् वास्तवांस्तस्य भर्तुः ॥ २७ ॥

'नूनं' निश्चितं 'अन्तर्भुवनं' भुवनमध्ये ते 'अणवः' परमाणवः क्वापि स्थाने केऽपि न सन्ति 'यैः' परमाणुभिः पुनरपि 'तत्तुल्यं' तस्य भगवतः सदृशं 'परं' अन्यद्रूपं 'सत्तां' अस्तित्वमाप्नोति । यैः परमाणुभिः स्वामिरूपं निष्पन्नं ते यदि विश्वेऽधिका अभविष्यन् तदा स्वामितुल्यं परमपि क्वापि रूपं निरपत्स्यत्, परं न निष्पद्यते यतस्तन्निष्पादका अणवः क्वापि न सन्ति । तथान्तर्भुवनं ते 'विज्ञाः' पण्डिता अपि नो सन्ति । भुवनस्यान्तरन्तर्भुवनं "पारे मध्येऽ"—(सि० ३–१–३०) अव्ययीभावः । 'यैः' विज्ञैः 'वास्तवान्' सत्यान् 'नवनवनवान्' नूतननूतनान् नवान् स्तवान् 'कारं कारं' कृत्वा कृत्वा तस्य भर्त्तुः 'अगण्यः' गणनातिगो गुणगणः स्तूयते । भगवतो लोकोत्तरानन्तगुणाः सत्यस्तवैर्यैः स्तूयन्ते ते विज्ञा विश्वे न सन्तीत्यर्थः । अभीक्ष्णं करणं पूर्वं प्राक्काले "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) इति णम्प्रत्ययः, वृद्धिः, "वीप्सायां" (सि० ७–४–८०) द्विः । अत्रानुमानानुप्रासौ । अत्र भगवत्तुल्यरूपानुपलब्ध्या हेतुनाधिकाः परमाणवो न सन्तीति साध्यानुमानम् । अगण्यत्वाद्गुणगणाः स्तवनानुमानम् ॥ २७ ॥

अथ सर्वगुणानां तत्रैव सत्तामाह—

तत्सौभाग्यं तदतुलतरस्तज्जनानन्दि रूपं
तल्लावण्यं तदपरिमितं ज्ञानमन्यानवापम् ।
सा मैत्री सा धृतिरविचला ताः कृपाक्षान्तिकान्ति-
प्रज्ञावाचः परमपि शुभं लभ्यमत्रैव लभ्यम् ॥ २८ ॥

'तत्' सर्वलोकप्रसिद्धं 'सौभाग्यं' सुभगभावः । तदिति सर्वत्र पूर्ववत् । अतुलं तुलारहितं तरो बलम् । तद् जनानानन्दयतीत्येवंशीलं जनानन्दि रूपम् । तद् लावण्यं लोकलोचनाञ्जलिपुटपेपीयमानशोभोपचयः । लवणशब्दो लक्षणया शोभायां वर्त्तते । तत् 'अपरिमितं' परिमाणरहितं ज्ञायते विशेषोऽनेनेति ज्ञानम् । किंविशिष्टं ज्ञानं ? 'अन्यानवापं' अन्यैर्नावाप्यते प्राप्यते इत्यन्यानवापं 'भावाऽकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) घञ्प्रत्ययः, अन्यैरलभ्यमित्यर्थः । सा 'मैत्री' परहितचिन्ता । सा अविचला 'धृतिः' सन्तोषः । ताः कृपाक्षान्तिकान्तिप्रज्ञावाचः । स्पष्टं परमपि 'शुभं' संहननसंस्थानसत्त्वशौर्यादिकं सर्वोत्तमगुणरूपं वस्तु 'लभ्यं' युक्तं तद् 'अत्रैव' भगवति 'लभ्यं' प्राप्यम् । सुभगस्य भावः सौभाग्यम्, लवणस्य भावो लावण्यम्, "वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा" (सि० ७–१–५९) ट्यण्प्रत्ययः । शुभमित्यत्र अव्यक्तत्वान्नपुंसकम् । एतावता भगवति सर्वलोकोत्तरगुणसंपदुक्ता । यतः—"संघयणरूवसंठाणवण्णगइसत्तसारऊसासा । एमाइऽणुत्तराइं हवंति नामोदया तस्स ॥" इति श्रुतसिद्धेः । अत्र समुच्चयसमानुप्रासाः । समुच्चयेऽपि सद्योगः "समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥" (का० प्र० १०, १२५) परमपीत्यादि ॥ २८ ॥

अथ कथाप्रसङ्गमाह—

अन्येद्युः स्वःसद इव दिवि क्रीडतः कामिनीडा-
क्रीडक्रोडे युवतिसमितान् वीक्ष्य वृष्णेः कुमारान् ।

तारुण्येनानुपमसुषमां बिभ्रतं तं प्रतीति
प्राकुर्वातां चतुरपितरौ प्रेरितौ प्रेमपूरैः ॥ २९ ॥

'अन्येद्युः' अन्यदिवसे 'चतुरपितरौ' चतुरौ दक्षौ पितरौ मातापितरौ 'तं' भगवन्तं प्रति 'इति' वक्ष्यमाणं 'प्राकुर्वातां' अकथयताम् । पिता च माता च पितरौ "पिता मात्रा वा" (सि० ३–१–१२२) सूत्रेण पितृशब्दशेषः । किंविशिष्टौ पितरौ ? 'प्रेमपूरैः' स्नेहपूरैः प्रेरितौ । किं कृत्वा ? 'कामीनीडाक्रीडक्रोडे' कामिनां चपलत्वात्पक्षिणामुपमानमन्तर्गूढं ज्ञेयम्, अतः कामिनां निवासाय नीडं कुलाय इव नीडं एवंविधं आक्रीडं प्रमदवनं तस्य क्रोडे उत्सङ्गे वनस्योत्सङ्गाभावात्सादृश्यान्मध्यप्रदेशो लभ्यते, अतः क्रीडावनमध्यभागे 'वृष्णेः कुमारान्' यदुकुमारान् क्रीडतो वीक्ष्य । वृष्णिरिति पूर्वपुरुषः अन्धकवृष्णिर्भोजवृष्णिर्वा, "तेलुग् वा" (सि० ३–२–१०८) पूर्वपदलोपः । किंरूपान् कुमारान् ? युवतिभिः स्त्रीभिः समितान् मिलितान् । कानिव ? 'दिवि' स्वर्गे 'स्वःसद इव' देवानिव, यथा स्वर्गे देवाः क्रीडन्ति । किं कुर्वन्तं तं ? तारुण्येन 'अनुपमसुषमां' निरुपमानशोभां 'बिभ्रतं' धरन्तम् । अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः, "पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेद्युस्" (सि० ७–२–९८) एद्युस्प्रत्ययः । प्राकुर्वातामिति "गन्धनावक्षेपसेवासाहससम्प्रतियत्नप्रकथनोपयोगे" (सि० ३–३–७६) इति प्रकथनार्थे आत्मनेपदम् । अत्रोपमालुप्तोपमारूपककाव्यलिङ्गानुप्रासाः । कामीति लुप्तोपमा पक्ष्युपमानचञ्चलत्वधर्मलोपात् । कुमारक्रीडादर्शनं प्रभोस्तारुण्यश्रीवरेण्यत्वजल्पने हेतुरिति काव्यलिङ्गम् । एतावता मातापितरौ श्रीशिवादेवीसमुद्रविजयौ श्रीरैवतकोद्याने कमनीयकामिनीकलितसकलयदुकुलकुमारान् क्रीडतो दृष्ट्वा श्रीनेमिनमभङ्गुरसौभाग्यशोभावरेण्यतारुण्यविभूषिताङ्गमप्यजिह्मब्रह्मपरमसुधास्वाददूरितविषयविलासं चालोक्य प्रभोः पाणिग्रहणलीलां दिदृक्षू 'इति' वक्ष्यमाणं वक्तुमारभेतामित्यर्थः ॥ २९ ॥

अथ मातापित्रोरुक्तिमाह—

असद्भाग्यैः सुरतरुरिवाभूर्वयस्थो विशिष्टः
शाणोन्मृष्टो मणिरिव महोलक्ष्मिपोषं तथापः ।
तत्त्वं काश्चित्क्षितिपतिसुतां हैममुद्रामिवौजः-
स्फूर्जद्वर्णां गुरुहरिकुलापीड! पाणौकुरुष्व ॥ ३० ॥

हे वत्स! त्वं 'अस्मद्भाग्यैः' अस्मत्पुण्यैः 'सुरतरुरिव' कल्पवृक्ष इव 'वयस्थः' तरुणोऽभूः । यथा भाग्येन गृहाङ्गणे कल्पतरुर्जायते वर्द्धते तथा लोकोत्तरसुतरत्नप्राप्तिरपि पित्रोर्भाग्येनैव स्यात् । किंविशिष्टस्त्वम्? 'विशिष्टः' सौन्दर्यादिगुणैः श्रेष्ठः । सुरतरुपक्षे विभिः पक्षिभिः श्रेष्ठः । तथा त्वं 'शाणोन्मृष्टः' शाणया उन्मृष्ट उत्तेजितो मणिरिव 'महोलक्ष्मिपोषमापः' महसां तेजसां लक्ष्मीः महोलक्ष्मीः तस्याः पोषस्तमापः "वेदूतोऽनव्ययय्वृदीचूङीयुवः पदे" (सि० २–४–९८) इति ह्रस्वः । कश्चित्तारुण्येऽपि विध्याताग्निरिव निस्तेजाः स्यात्, त्वं तु तेजःश्रिया दीप्यमानोऽसीत्यर्थः । हे 'गुरुहरिकुलापीड!' गुरु महद् हरिकुलं यदुकुलं तस्यापीडः शेखरं 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं काञ्चित्क्षितिपतिसुतां हैममुद्रामिव 'पाणौकुरुष्व' परिणय, पक्षे पाणौ हस्ते यथा हैमी मुद्रा पाणौ हस्ते क्रियते । किंरूपां क्षितिपतिसुताम्? 'ओजःस्फूर्जद्वर्णां' ओजसा बलेन दीप्त्या वा स्फूर्जन् वर्णो रूपं यस्याः सा ताम् । मुद्रापक्षे ओजसा दीप्त्या स्फूर्जन् वर्णः सुवर्णम् । यतः—"वर्णः स्वर्णे व्रते स्तुतौ । रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायामक्षरे गुणे । भेदे गीतक्रमे चित्रे यशस्तालविशेषयोः ॥" इत्यनेकार्थः । पाणौकुरुष्वेति विवाहार्थे "नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे" (सि० ३–१–१५) इति गतिसञ्ज्ञा । एतावता वत्स! त्वमस्माकं भाग्यैर्निर्विघ्नं तारुण्यवयः प्रापः, तारुण्येऽपि निरुपमानदेदीप्यमानतेजःश्रियं च लब्धवान्, अतो यदि काञ्चिदनुरूपरूपां राजकन्यां परिणयसि तदास्माकं सर्वे मनोरथाः

पूर्येन्त इति। अत्रोपमामालोपमासमुच्चयकाव्यलिङ्गानुप्रासाः। हैम-मुद्रामिवेत्युपमा। एकस्मिन् भगवत्युपमेये सुरतरुरिवेति मणिरिवे-त्युपमानद्वययोगान्मालोपमा। तारुण्यं महश्च परिणयहेतू वाक्या-र्थतया गृहीताविति काव्यलिङ्गम्॥ ३०॥

अथ मातापित्रोराग्रहे भगवदुक्तिमाह—

आगृह्णानावुपयतिकृते कृत्स्नवात्सल्यखानी
पौनःपुन्यात्प्रकृतिसरलौ क्षीरकण्ठाविवैतौ।
लप्स्ये लोकम्पृणगुणखनीं चेत्कनीं तद्विवक्ष्येऽ-
तीक्ष्णोक्त्येत्यागमयत कियत्कालमेषोऽप्यलक्ष्यः॥३१॥

एषोऽप्यलक्ष्यो भगवान् इति 'अतीक्ष्णोक्त्या' मृदुगिरा 'एतौ' पितरौ कियत्कालं 'आगमयत' प्रत्यैक्षयत् कालातिक्रमं कारयामासे-त्यर्थः। किंविशिष्टावेतौ? 'उपयतिकृते पौनःपुन्यादागृह्णानौ' भृशा-भीक्ष्णेन उपयतिः पाणिग्रहणं तत्कृते आगृह्णानौ आग्रहपरौ। पुनः किंविशिष्टौ? 'कृत्स्नवात्सल्यखानी' कृत्स्नं समस्तं वात्सल्यं तस्य खानी। पुनः किंविशिष्टौ? 'क्षीरकण्ठाविव' बालाविव प्रकृतिसरलौ। इतीति किम्? अहं 'चेद्' यदि लोकम्पृणगुणखनीं कनीं 'लप्स्ये' प्राप्स्यामि। प्रींग्श् तृप्तिकान्त्योः, लोकं प्रीणन्तीति लोकम्पृणाः अ-च्प्रत्ययः, "लोकम्पृणमध्यन्दिनाऽनभ्यासमित्यम्" (३-२-११३) इति मोन्तः लोकम्पृणनिपातः। लोकम्पृणा लोकप्रीतिकारका ये गुणास्तेषां खनीव खनी ताम् 'तत्' तदा 'विवक्ष्ये' परिणेष्यामि। भगवतोऽभिप्रायस्तावदेवम्—यल्लोकम्पृणशममार्दवार्जवसन्तोषाद्यने-कगुणरत्नखनिर्दीक्षैवास्ति, अतोऽहमवसरे तामेवाङ्गीकरिष्यामि। मातापित्रोरभिप्रायस्तु—असौ योग्यां कन्यां यदा लप्स्यते तदा प-रिणेष्यतीत्याशया पितरौ कियत्कालं प्रतीक्षितौ। गम् आङ्पूर्वः, आगच्छन्तौ प्रयुङ्क्ते णिग्, "गमेः क्षान्तौ" (सि० ३-३-५५) आत्मनेपदम्। विवक्ष्ये इति वहीं प्रापणे, विपूर्वः, भविष्यतः स्ये।

अत्रोपमारूपकसमासोक्तिपरिकरानुप्रासाः। लोकम्पृणेत्यत्र श्लेषोक्त्या द्वितीयार्थस्य लभ्यमानत्वात्समासोक्तिः । आगृह्णानावित्यादिसाकूतैर्विशेषणैः परिकरः । कियत्कालमित्यत्र "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" (सि० २-२-४२) इति द्वितीया ॥ ३१ ॥

अथ कथाप्रसङ्गमाह—

स्वैरं भ्राम्यन् वनगज इव श्रीपतेरन्यदासौ
शस्त्रागारं न्यविशत लसच्चारुचक्रं सरोवत् ।
तत्रापश्यत्कुटिलसरलां सर्वतः पुष्कराढ्यां
शस्त्रश्रेणीं विकचकमलां वीचिमालामिवाथ ॥ ३२ ॥

'अन्यदा' अन्यस्मिन् काले 'असौ' भगवान् वनगज इव 'स्वैरं' स्वेच्छया भ्राम्यन् सरोवत् 'श्रीपतेः' कृष्णस्य 'शस्त्रागारं' आयुधशालां न्यविशत । एतावता असौ भगवानन्यदा यदुकुलकुमारपरिवृतः क्रीडया भ्रमन् कृष्णस्यायुधशालायां गत इत्यर्थः । यथा गजः स्वेच्छया भ्रमन् सरो विशति । किंविशिष्टं शस्त्रागारम्? 'लसच्चारुचक्रं' लसच्चारु मनोज्ञं चक्रं चक्रप्रहरणं सुदर्शनाख्यं यत्र । सरःपक्षे चक्राश्चक्रवाकाः । अथासौ भगवान् तत्र शस्त्रागारे 'शस्त्रश्रेणीं' शार्ङ्गधनुष्कौमोदकीगदानन्दकखड्गादिकामपश्यत् । कामिव? 'वीचिमालामिव' यथा गजस्तत्र सरसि वीचिमालां पश्यति । किंविशिष्टां शस्त्रश्रेणीम्? 'कुटिलसरलां' कुटिला चासौ सरला च कुटिलसरला ताम् । कानिचिद्धनुरादीनि कुटिलानि कानिचित्खड्गगदादीनि सरलानि वर्त्तन्ते । कुब्जकुण्ठवत्समासः । वीचिपक्षेऽप्ययमेवार्थः । पुनः कथंभूतां? 'सर्वतः पुष्कराढ्यां' पुष्कराण्यसिफलानि शरा वा तैराढ्यां समृद्धाम् । पक्षे पुष्करं जलं तेनाढ्यां समृद्धाम् । यतः—"पुष्करं तीर्थाहिखगरागौषधान्तरे । तूर्यास्येऽसिफले काण्डे शुण्डाग्रे खे जलेऽम्बुजे ॥" इत्यनेकार्थात् । पुनः कथंभूताम्? 'विकचकमलाम्' विकचा विकस्वरा कमला

लक्ष्मीर्यस्य : सकाशात्ताम् । पक्षे विकचानि स्मेराणि कमलानि यस्यां सा ताम् । न्यविशतेति "निर्विशः" (सि० ३–३–२४) इत्यात्मनेपदम् । अत्रोपमाश्लेषाः ॥ ३२ ॥

तत्र प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः पाञ्चजन्यं
　शङ्खं प्रेक्ष्य श्रुतिसुखचिकीर्यावदादित्सतासौ ।
तावत्क्षत्ता जलशयमृते पूर्यते नायमन्यै-
　रित्थं संज्ञुर्विनयविनमन्मौलि विज्ञप्तवांस्तम् ॥ ३३ ॥

'असौ' भगवान् 'तत्र' शस्त्रागारे 'पाञ्चजन्यं' शङ्खं प्रेक्ष्य यावत् 'आदित्सत' ग्रहीतुमैच्छत किंरूपोऽसौ? 'प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः' प्रेक्षा विलोकनं तस्याः कुतुकेन कुतूहलेन निहितेऽर्थात्तत्र शङ्खे न्यस्ते प्रेक्षणे लोचने येन स प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः । किंरूपः? 'श्रुतिसुखचिकीः' श्रुत्योः कर्णयोः सुखं कर्तुमिच्छतीति श्रुतिसुखचिकीः । तावत् 'क्षत्ता' प्रतीहारः 'तं' भगवन्तं 'विनयविनमन्मौलि' यथाभवति इत्थं विज्ञप्तवान् विनयेन विनमन्मौलिर्यत्र नमने तत्क्रियाविशेषणम् । इत्थमिति किम्? 'अयं' शङ्खः 'जलशयं' कृष्णं 'ऋते' विनाऽन्यैर्न पूर्यते । किंरूपः क्षत्ता? 'संज्ञुः' योजितजानुयुगः । अत्र शङ्खपूरणनिषेधद्वारेण ग्रहणनिषेधः कृतः । न तु प्रभोर्मा गृहाणेति निरुपचारं वाचा वक्तुं युक्तमिति पर्यायोक्तमनुप्रासश्च । चिकीरत्र डुकृंग् करणे, कर्तुमिच्छतीति "तुमर्हादिच्छायां सन्नतत्सनः" (सि० ३–४–२१) सन्, "स्वरहन्गमोः सनि घुटि" (सि० ४–१–१०४) कृदीर्घः, "सन्यङश्च" (सि० ४–१–३) कृद्वित्वं, "ह्रस्वः" (सि०–४–१–३९) कृ, "ऋतोऽत्" (सि० ४–१–३८) ऋ अ, "सन्यस्य" (सि० ४–१–५९) कि, "कङश्चञ्" (सि० ४–१–४६) कि चि, "ऋतां क्ङितीर्" (सि० ४–४–११६) किर्, "भ्वादेर्नामिनो दीर्घो–" (सि० २–१–६३) कीर्, "नाम्यन्तस्थाकवर्गात्–" (सि० २–३–१५)

स ष्, चिकीर्षतीति "क्विप्" क्विप्, "अतः" (सि० ४-३-८२) अलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १-१-३७) क्विब्लोपः, प्रथमा सि, "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि० १-४-४५) सिलोपः, "रात्सः" (सि० २-१-९०) इति सूत्रेण "णषमसत्परे स्यादिविधौ च" (सि० २-१-६०) इति षत्वस्यासत्वात्सलोपः, चिकीरिति निष्पन्नम् । जलशयमृते "ऋते द्वितीया च" (सि० २-२-११४) इति द्वितीया । "संज्ञुसंज्ञौ युतजानू" इति ॥ ३३ ॥

तच्चाकर्ण्य स्मितसितमुखः सोदरस्तेजसांशो-
रभ्याशस्थैरनिमिषतमैर्विस्मयाद्वीक्ष्यमाणः ।
आनन्त्यौजाः स लघु जलजं लीलयाऽधत्त हस्ते
भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणं रोपयामास चास्ये ॥ ३४ ॥

'सः' भगवान् 'लघु' शीघ्रं यथाभवति 'जलजं' शङ्खं लीलया हस्तेऽधत्त 'च' अन्यत् 'आस्ये' मुखे रोपयामास। लीलयेति प्रयास-परिहारः । किंरूपः? 'चः' पूर्वोक्तसमुच्चये तत्प्रतीहारोक्तमाकर्ण्य 'स्मितसितमुखः' स्मितेन हास्येन सितं श्वेतं मुखं यस्य सः । प्रतीहारेण यदुक्तमयं शङ्खः श्रीकृष्णं विनाऽन्येन केनापि पूरयितुं न शक्यते इतिवाक्यं श्रुत्वा न जानाति वराकोऽस्मद्बलमिति मनाग्विकस्वरीभूतकपोलनेत्ररूपस्मितोज्ज्वलमुखः। पुनः कथंभूतः? 'तेजसा' कान्त्या 'अंशोः' सूर्यस्य सोदरः । पुनः किंरूपः ? 'अभ्याशस्थैः' समीपस्थैः 'अनिमिषतमैः' अनिमेषैर्जनैः 'विस्मयाद्' आश्चर्याद्वीक्ष्यमाणः । पुनः कथंभूतः ? 'आनन्त्यौजाः' आनन्त्यमनन्तमोजो बलं यस्य सः । किंविशिष्टं जलजम् ? 'भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणं' भूरि सुवर्णं तस्य स्फूर्जन् परिचितो बद्धो गुणो दवरको नङ्गलाख्यो यत्रासौ भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणस्तम्। अथ साधारणविशेषणैः प्रतीयमानमर्थान्तरम्—अन्योऽप्यंशोः सोदर ऐरावणो 'जलजं' कमलं लीलया 'हस्ते' शुण्डादण्डे दधाति 'च' अन्यन्मुखे रोपयति। सोऽपि समीपस्थैरनिमिषतमैः

प्रकृष्टदेवैर्विस्मयाद्वीक्ष्यते महाबलवांश्च भवति । किंविशिष्टं जलजम्? 'भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणं' भूरयो बहवः परिचिताः श्लिष्टा गुणाः केसराणि यत्र तत् । अत्र प्रकृष्टा अनिमिषा अनिमिषतमाः, "प्रकृष्टे तमप्" ('सि० ७-३-५) तमप् प्रत्ययः । 'आनन्त्यौजाः' अनन्तमेवानन्त्यम्, "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" (सि० ७-२-१६४) ट्यण्प्रत्ययः । रोहन्तं प्रायुङ्क्त "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (सि० ३-४-२०) णिग्, "रुहः पः" (सि० ४-२-१४) हस्य पः । अत्र स्मितसितमुखो रोपयामासेति गूढलक्षणा । अत्र समासोक्तिरूपकदीपकानुप्रासाद्याः ॥ ३४ ॥

तेन स्निग्धाञ्जनघनघनः सोऽतिशैलेयदध्ना
लोकेशो वाङ्मनसविषयं व्यानशे श्रीविशेषम् ।
ज्यौत्स्न्यामन्तःशरदममलं व्योम पूर्णेन्दुनेव
प्रत्यग्रो वाभ्युदयित इव त्वं बलाकाकुलेन ॥ ३५ ॥

स लोकेशः 'तेन' शङ्खेन 'श्रीविशेषं' शोभाविशेषं 'व्यानशे' प्राप्तवान् । किंरूपः सः? 'स्निग्धाञ्जनघनघनः' स्निग्धं यदञ्जनं घनो मेघस्तद्वद्घनः शरीरं यस्य । किंविशिष्टेन तेन? 'अतिशैलेयदध्ना' शिलया तुल्यं शैलेयं ईदृशं दधि अतिक्रान्तः अतिशैलेयदधिस्तेनातिशैलेयदध्ना, एतावताऽतीवशुक्लस्निग्धतया स्नेहबहुलं पिच्छलं दध्यतिक्रान्तम् । किंरूपं श्रीविशेषम्? 'अवाङ्मनसविषयं' वाक् च मनश्च वाङ्मनसे वाङ्मनसयोर्विषयो वाङ्मनसविषयो न विद्यते वाङ्मनसविषयो यत्र स तम्, अतो वाचा वक्तुं मनसा चिन्तयितुं न पार्यते । किमिव? अमलं व्योमेव, यथा 'अन्तःशरदं' शरत्कालस्यान्तः 'ज्यौत्स्न्यां' पूर्णिमायां पूर्णेन्दुना श्रीविशेषं व्यश्नुते । 'वा' अथवा क इव? 'त्वमिव' यथा त्वं 'प्रत्यग्रः' नवीनः 'अभ्युदयितः' उदयं प्राप्तः सन् बलाकाकुलेन श्रीविशेषं व्यश्नुषे । व्योममेघौ भगवत उपमा । पूर्णेन्दुबलाकाकुले शङ्खस्य । शिलायास्तुल्यं

शैलेयं "शिलाया एयञ्च" (सि० ७–१–११३) एयञ् प्रत्ययः तदनु "प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्त–" (सि० ३–१–४७) इत्यादिना तत्पुरुषः । अतिक्रान्तं शैलेयं दधि येनेति बहुव्रीहौ "दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छालेः" (सि० ७–३–१७२) इति कप्रत्ययस्यात् । अवाङ्मनसेति वाक्च मनश्चेति वाङ्मनसं "ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्मनसाहोरात्ररात्रिंदिवनक्तंदिवाहर्दिवोर्वष्ठीवाक्षिभ्रुवदारगवम्" (सि० ७–३–९७) इति समासान्तोऽत्प्रत्ययो निपातश्च । व्यानशे अशौटि व्याप्तौ । ज्योत्स्ना विद्यते यस्यां सा ज्यौत्स्नी "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सि० ७–२–३४)अण्, वृद्धिः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) इत्यालोपे, "अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्" (सि० २–४–२०) ङीप्रत्यये ज्यौत्स्नीरूपम् । शरदोऽन्तर्मध्यमन्तःशरदं "शरदादेः" (सि० ७–३–९२) अत्प्रत्ययः । अयि वयि पयि मयि नयि चयि रयि गतौ, अय् अभि–उत्पूर्वः क्तप्रत्ययेऽभ्युदयितः । अत्रोपमानमालोपमोदात्तानि ॥ ३५ ॥

तस्मिन् शङ्खे पूर्यमाणे सति यज्जातं तद्विशेषकेनाह—

तस्मिन्नीशे धमति जलजं छिन्नमूलद्रुवत्ते
शस्त्राध्यक्षाः सपदि विगलच्चेतनाः पेतुरुर्व्याम् ।
आश्वं चाशु व्यजयत मनो मन्दुराभ्यः प्रणश्य-
न्मूढात्मेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च ॥ ३६ ॥

हारावाप्तीरदधत हृदीवानने पौरनार्यो
योद्धुर्गुच्छच्छदवदपतन् फाल्गुनेऽस्त्राणि पाणेः ।
प्राकाराग्र्याण्यपि विजगलुर्गण्डशैला इवाद्रेः
पूच्चक्रे च प्रतिरुतनिभाद्भूरिभीरुज्जयन्तः ॥ ३७ ॥

तस्थुर्वीराः क्षितिपतिसभे यद्भविष्या ह्रियैवा-
स्थानस्थान्तः किमिति चकितोऽधोक्षजः क्षोभमार्षीत् ।

किं वा कम्बोर्नगरवरणे मूर्च्छति प्रौढनादे
सर्वं पारिप्लवमिति तदा तथ्यतामाप वाक्यम् ॥ ३८ ॥
त्रिभिर्विशेषकम् ॥

'तस्मिन्नीशे' श्रीनेमिजिनस्वामिनि 'जलजं' शङ्खं 'धमति' वादयति सति 'ते' प्रसिद्धाः 'शस्त्राध्यक्षाः' आयुधरक्षकाश्छिन्नमूलद्रुवत् 'उर्व्यां' पृथिव्यां पेतुः । द्रुर्वृक्षः । किंरूपाः शस्त्राध्यक्षाः? 'सपदि' तत्कालं विगलन्ती चेतना येषां ते विगलच्चेतनाः । 'च' अन्यत् 'आश्वं' अश्वसमूहं 'मन्दुराभ्यः' हयशालाभ्यः 'आशु' शीघ्रं 'प्रणश्यत्' पलायमानं मनो व्यजयत । अश्वानां समूह आश्वम् । अश्वैर्भीतैस्त्रस्यद्भिर्वेगेन मनोऽपि जितमित्यर्थः । 'मूढात्मेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च' च अन्यद् हास्तिकं हस्तिनां समूहः चतुरोपाश्रयं हस्तिशालाममुचत्, सिंहनादभ्रान्त्या हस्तिनो हस्तिशालात्त्रस्ता इत्यर्थः । क इव? 'मूढात्मेव' यथा मूढात्मा मूर्खश्चतुरोपाश्रयं चतुराणां दक्षाणामुपाश्रयं स्थानं मुञ्चति । "मूढेनेवौज्झ्यत च चतुरोपाश्रयः हास्तिकेन" इति पाठे 'औज्झ्यत' अत्यज्यत, परमस्मिन् पाठे भग्नप्रक्रमो दोषः । अन्याः सर्वा उक्तयः कर्त्रा निर्व्यूढाः सन्ति । एषा तु कर्मणेति भग्नप्रक्रमत्वम् । व्यजयतेति "परावेर्जेः" (सि० ३–३–२८) आत्मनेपदम् । अश्वानां समूह आश्वं "षष्ठ्याः समूहे" (सि० ६–२–९) अण् । हस्तिनां समूहो हास्तिकं "कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण्" (सि० ६–२–१४) इकण्प्रत्ययः । अत्रोपमानक्रियासमुच्चयदीपकपर्यायोक्तानि । मनो व्यजयतेति वेगातिशयप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥ ३६ ॥ हारावाप्तीरिति । तस्मिन्नीशे जलजं धमति सतीति सर्वत्रापि संबध्यते । 'पौरनार्यः' नागरिकस्त्रियो हृदीव 'आनने' मुखे 'हारावाप्तीरदधत' कोऽर्थः? यथा हृदि हारस्यावाप्तिः प्राप्तिर्ध्रियते, तथा मुखेऽपि हा इति रावस्तस्याप्तयो धृताः । बहुवचनमेकस्या अपि बहुशो हाहाशब्दकरणात् ।

एतेनात्याकुलत्वं सूचितम् । 'योद्धुः' भटस्य 'पाणेः' हस्तादस्त्राण्य-पतन् । किंवत्? 'गुच्छच्छदवत्' गुच्छो वृक्षस्तस्य च्छदानि दलानि तद्वत्, यथा फाल्गुने गुच्छच्छदानि पतन्ति । योद्धुरिति जातावे-कवचनम् । 'प्राकाराग्र्याण्यपि' कपिशीर्षाण्यपि 'विजगलुः' षटत्षट-त्कुर्वन्ति दुर्गभित्तेर्गलितानि भ्रष्टानि । के इव? 'गण्डशैला इव' यथाऽद्रेर्गण्डशैलाः स्थूलोपला गलन्ति । 'च' अन्यत् 'उज्जयन्तः' रैवतकः 'प्रतिरुतनिभात्' प्रतिशब्दमिषात् पूच्चक्रे । किंविशिष्टः? 'भूरिभीः' भूरिर्बह्वी भीः भीतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोपमारूपकाप-ह्नुतिसमुच्चयदीपकानि ॥ ३७ ॥ तस्थुरिति । 'क्षितिपतिसभे' राज-सभायां 'ह्रियैव' लज्जयैव 'यद्भविष्याः' दैवपरास्तस्थुः, यद्दैवं करि-ष्यति तद्भविष्यतीत्येवमवष्टभ्य पलायने कातरा अमी इति प्रवाद-माप्स्यामस्ततो लज्जयैव तस्थुर्न तु धैर्येण । 'आस्थानस्य' सभायाः 'अन्तः' मध्ये 'अधोक्षजः' कृष्णः क्षोभमार्षीत् । किंविशिष्टोऽधो-क्षजः? 'किमिति चकितः' चलचित्ततया किं किमिति शङ्कितः । 'किं वा' अथवा बहु किं कथ्यते? इत्यर्थः । तदा सर्वं 'पारिप्लवं' क्षणिकं इति वाक्यं 'तथ्यतां' सत्यतामाप । क सति? 'कम्बोः' शङ्खस्य प्रौढनादे 'नगरवरणे' नगरदुर्गे 'मूर्च्छति' प्रवृत्तयति सति । बौद्धा हि सर्वं क्षणिकं मन्यन्ते, तद्दृष्टेष्टाभ्यामघटमानमपि तदा घटितम् । कोऽर्थः? शङ्खस्य महानादे सर्वत्र विस्तृते सति सकलगजतुरगपदाति-सर्वबलनागरिकत्रासप्रासादशिखरधवलगृहगवाक्षचलनप्राकारकपि-शीर्षकगलनरैवतकाद्रिकम्पादिना लक्षणेन सर्वत्र वैसंस्थुल्यं तथाऽजनि यथा सर्वं क्षणिकमिति वाक्यं सत्यमभूत् । क्षितिपतेः सभा क्षिति-पतिसभं तत्र, "राजवर्जितराजार्थराक्षसादेः परापि च ।" (है० लिङ्गा० नपुं० ११ श्लो०) इति नपुंसकत्वम् । अत्र पर्यायोक्तं वा । प्राकारादिक्षोभे जायमाने शक्यस्यापि सर्वपारिप्लववाक्यस्य घटनमिति विशेषः । ततः—"अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यव-

स्तुनः । तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥" (का० १०, १३६) सर्वं पारिप्लवमिति वाक्यताप्राप्त्या शङ्खनादाद्वैताभिधानमिति पर्यायोक्तम् । अत्र दीपकसमुच्चयोदात्तातिशयोक्तयः काव्यत्रयेऽपि ज्ञेयाः ॥ ३८ ॥

अथ शङ्खपूरणादनु यज्जातं तदाह—

जानँल्लोके स जलजतया क्लेशबीजं कृपालुः
　कम्बुं हित्वाऽपि हि जलशयास्थानमार्षीदथेशः ।
नेमीशोपक्रममिदमिति ज्ञातपूर्वी मुरारि-
　र्योग्याभूमौ भुजबलपरीक्षार्थमाह्वास्त तं च ॥ ३९ ॥

'अथ' अनन्तरं स ईशः 'कम्बुं' शङ्खं जलजतया क्लेशानां शस्त्राध्यक्षमूर्च्छाहयगजत्रासप्रासादप्राकारकम्पलोकहाहाकारादीनां बीजं कारणं क्लेशबीजं जानन् 'हित्वापि' त्यक्त्वापि 'हिः' इति विस्मये 'जलशयास्थानमार्षीत्' जलशयस्य कृष्णस्य आस्थानं सभामागच्छत् । शङ्खो जलजः कथ्यते तस्य भावो जलजता तया । नाम्न्येव श्लेषेणार्थान्तरमुद्भावयति कविः—डलयोरैक्यादन्योऽपि यो जडजो भवति जडाज्जायत इति जडजो मूर्खोद्भवः स क्लेशानां कामक्रोधकलहाभिनिवेशपैशुन्यादीनां बीजं भवतीत्येषोऽपि जलजः । अपि हीति विरोधोद्भावने । जडजतया क्लेशबीजं त्यक्त्वापि यो जडमध्ये शेते इति जडशयो मूर्खाशयवासी तस्य सभामागच्छदिति विरोधः । यदि जलजः क्लेशबीजं ज्ञायते तर्हि जलशयास्थाने कथं गम्यत इति । 'च' अन्यत् मुरारिः 'योग्याभूमौ' श्रमभूमिकायां भुजबलपरीक्षार्थं 'तं' भगवन्तं 'आह्वास्त' आकारितवान् । अस्य यादृशं नादबलं वर्त्तते दोर्बलमपि तेनानुमानेन वर्त्तते न वेत्यभिप्रायेण तत्परीक्षार्थमेनमाकारितवान् कृष्णः । परं राजीमती तमभिप्रायं न वेत्तीति सोऽभिप्रायः साक्षान्नोपनिबद्धः । किंविशिष्टो मुरारिः? 'इदं नेमीशोपक्रमं इति ज्ञातपूर्वी' इदमिति श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं चम-

त्कारकारित्वाच्च चेतसि जागरूकं शङ्खपूरणं नेमीशस्योपक्रमं नेमीशेनादौ प्रवर्तितम्, "आदावुपक्रमोपज्ञे" (हे० लिङ्गा० न० ११ श्लो०) इति क्लीबत्वम् । ननु शङ्खस्तावदनेकैरपि पुरापूरि, अतोऽत्रादित्वं कथं येन क्लीबत्वम्? सत्यम्, परं यादृशः सागरगिरिनगरक्षोभकारी भगवता शङ्खोऽपूर्यत तादृशोऽग्रेऽन्येन केनापि नास्ति पूरित इत्यादित्वम् । तद् ज्ञातं पूर्वमनेनेति ज्ञातपूर्वी "पूर्वमनेन सादेश्चेन्" (सि० ७-१-१६७) इति ईन्प्रत्ययः । आह्वास्तेति "ह्वः स्पर्द्धे" (सि० ३-३-५६) इत्यात्मनेपदम् । अत्र श्लेषविरोधकाव्यलिङ्गानि । नेमिः शङ्खमापूर्य कृष्णसभां गतः । श्रीकृष्णोऽपि नादबलचमत्कृतो भुजबलपरीक्षार्थं मल्लयुद्धाय स्पर्द्धया भगवन्तमाहूतवान् ॥ ३९ ॥

ध्यात्वा किञ्चिन्मनसि स विभुः श्रीपतिं साह बन्धोऽ-
न्योऽन्यं दोष्णोर्नमनविधिनैवावयोरस्तु सेयम् ।
साहस्राणामितरजनवन्नौत्तराधर्यवृत्तं
धत्तेऽभिख्यां निकषकषणं सन्मणीनामिवादः ॥ ४० ॥

स विभुर्मनसि किञ्चिद्ध्यात्वा श्रीपतिं 'आह स्म' उवाच । यदसौ त्रिभुवनस्यापि क्षोभकं मम मुष्टिप्रहारपार्ष्णिघातादिकं कथं सोढेति भगवान् दध्यौ, तच्चातीन्द्रियमिति राजीमती न प्रत्येति, एतदेव कलयति यद्भगवता किञ्चिद्ध्यातम् । अथ भगवान् किमुवाच? हे बन्धो! 'सेयं' भुजबलपरीक्षा आवयोः 'अन्योऽन्यं' परस्परं 'दोष्णोः' भुजयोर्नमनविधिनैवास्तु, एक एकतरस्य भुजं नामयतीति । अत्र युक्तिमाह—साहस्राणां पुरुषाणामितरजनवदौत्तराधर्यवृत्तं 'अभिख्यां' शोभां न धत्ते । ये सहस्रेण युध्यन्ते ते साहस्रा उच्यन्ते । मल्लयुद्धे एक एकेनाधःक्रियतेऽन्यस्तूपरि भवतीत्यौत्तराधर्यं, औत्तराधर्येण वृत्तं भवनं औत्तराधर्यवृत्तम् । एतावता सहस्रयोधिनः पुरुषाः सामान्यलोकवन्मल्लयुद्धेऽधःक्रियमाणा उपरि

भवन्तश्च न शोभन्त इत्यर्थः । किमिव? 'सन्मणीनां निकषकषणमिव' यथा प्रधानमणीनां चन्द्रकान्तादीनां निकषे शाणायां कषणं समुत्ते-जनमभिख्यां न धत्ते । अत्रार्थान्तरन्यासोपमानानुप्रासाः ॥ ४० ॥

ओमित्युक्त्वा स्थितवति पुरः केशवे संमुखीनः
स्वाम्यप्यस्थादतरलतनुर्योगनिद्रामवाप्तः ।
द्वावप्येतावथ दशधनुष्प्रांशुरिष्टांशुमूर्त्ती
बभ्रासाते इव नगपती सङ्गतावञ्जनाख्यौ ॥ ४१ ॥

'स्वाम्यपि' नेमीश्वरोऽपि 'संमुखीनः' संमुखोऽस्थात् । क सति? 'केशवे' कृष्णे ओमित्युक्त्वा 'पुरः' अग्रे स्थितवति सति यद्भग-वता भुजयोर्नमनविधिनैव भुजबलपरीक्षाऽस्त्वित्युक्तं तत्प्रतिपद्य स्वा-मिनोऽग्रे ऊर्ध्वं स्थिते कृष्णे स्वाम्यपि संमुखस्तस्थावित्यर्थः । किंवि-शिष्टो भगवान्? 'अतरलतनुः' अतरला निश्चला तनुर्यस्य सः । उत्प्रेक्ष्यते—निश्चलाङ्गतया योगनिद्रामवाप्त इव । 'अथ' अनन्तरं 'एतौ द्वावपि' कृष्णनेमिनौ 'बभ्रासाते' विरेजतुः । किंविशिष्टावेतौ? 'दशधनुष्प्रांशुरिष्टांशुमूर्त्ती' दश धनूंषि प्रांशुरुच्चैस्तरा रिष्टरत्नवदंशवो यस्याः सा रिष्टांशुरीदृशा मूर्त्तिर्ययोस्तौ । उत्प्रेक्ष्यते 'संगतौ' मिलितौ 'अञ्जनाख्यौ' अञ्जननामानौ 'नगपती' महापर्वताविव । अत्र सं-मुखं मुखं दृश्यतेऽस्मिन्निति संमुखीनः । तथा मुखसंमुखादीनस्त-दृश्यतेऽस्मिन्निति ईनः । अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ४१ ॥

दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तराया
व्याप्तानन्ताः परिहृतगवो(ऽ)निर्निमेषाक्षिलक्ष्याः ।
मर्त्यामर्त्याः समगमत तौ तत्र चित्रीयमाणा
रोदःखण्डे लघु निशमकाः स्थेयवन्निर्विशेषाः ॥ ४२ ॥

'मर्त्यामर्त्याः' नरामरास्तत्र 'रोदःखण्डे' आकाशपृथ्वीमध्ये 'समगमत' अमिलन् । किंविशिष्टा मर्त्यामर्त्याः? 'दूरापास्तस्फुट-रसकलाकेलिकृत्यान्तरायाः' तत्र मर्त्यपक्षे दूरेऽपास्तास्त्यक्ताः स्फुटं

प्रकटं रसा मधुराद्याः कला गीताद्याः केलयोऽम्बुविहारान्दोलनपुष्पावचयाद्याः कृत्यान्तराणामापणोपवेशनक्रयविक्रयाद्यानामाया लाभा यैस्ते विमुक्तभोजनकलाभ्यासक्रीडाव्यवसाया इत्यर्थः । अमर्त्यपक्षे दूरेऽपास्तास्त्यक्ताः स्फुटं प्रकटं रसाः शृङ्गाराद्याः कलाकेलिः कामस्तस्य कृत्यानि क्रीडादीर्घिकालोडनकदलीगृहशयननाट्यदर्शनाङ्गनापरिष्वङ्गादीन्येव प्रकृतप्रयोजनं प्रत्यन्तराया यैस्ते । पुनः किंरूपाः? 'व्याप्तानन्ताः' व्याप्ताऽनन्ता पृथ्वी यैस्ते । पक्षे व्याप्तमनन्तमाकाशं यैस्ते । पुनः किंरूपाः? 'परिहृतगवः' परिहृता त्यक्ता गौर्वाणी यैस्ते । पक्षे परिहृतो गौः स्वर्गो यैस्ते । पुनः कथंभूताः ? मर्त्यपक्षे 'अनिर्निमेषाक्षिलक्ष्याः' निर्निमेषाणि निमेषरहितानि अनिर्निमेषाणि निमेषसहितानि अक्षीणि नेत्राणि तैर्लक्ष्यन्ते ज्ञायन्ते इति । अमर्त्यपक्षे निर्निमेषैर्निमेषरहितैरक्षिभिर्लक्ष्याः । अतस्तत्र नरामराणां महासमुदाया नेत्राणां सनिमेषत्वानिमेषत्वाभ्यामेव लक्ष्यमाणाः सन्ति । पुनः किंरूपाः 'चित्रीयमाणाः' चित्रमाश्चर्यं कुर्वन्तः । पुनः किंविशिष्टाः ? 'लघु' शीघ्रं 'तौ' नेमिकृष्णौ निशमिष्यामो विलोकयिष्याम इति निशमकाः । पुनः किंरूपाः ? 'स्थेयवन्निर्विशेषाः' स्थेयवत् सभ्यवत् निर्विशेषा विशेषरहिताः । समगमतेति "समो गमृच्छिप्रच्छिश्रुवित्स्वरत्यर्त्तिदृशः" (सि० ३–३–८४) इत्यात्मनेपदम् । चित्रङ् सौत्रो धातुः, चित्रं करोतीति "नमोवरिवश्चित्रङोऽर्चासेवाश्चर्ये" (सि० ३–४–३७) क्यन्, "क्यनि" (सि० ४–३–११२) ई, चित्रीयन्ते इति वर्त्तमाने "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ" (सि० ५–२–२०) आनशोऽन्तः । निशमका इति शमू दमूच् उपशमे, शम् निपूर्वो निशमिष्याम इति "क्रियायां क्रियार्थायां तुमूणकच्भविष्यन्ती" (सि० ५–३–१३) णकच्प्रत्ययः । "मोऽकमियमिरमिनमिगमिवमाचमः" (सि० ४–३–५५) इति वृद्धिनिषेधः । स्थेयवदिति हैमानेकार्थे "स्थेयोऽक्षदृक्पुरोधसोः"

इति श्लेषः। अत्राक्षं न्यायं व्यवहारं पश्यतीत्यक्षदृग् न्यायदर्शक इत्यर्थः। अत्र श्लेषसमुच्चयोदात्तोपमानानि ॥ ४२ ॥

अग्रे भर्तुर्निजभुजमथो मत्तहस्तीव हस्तं
व्यातत्यास्थाद्यदुपरिवृढो दक्षिणं पुष्कराग्रम्।
यस्य द्युम्नाम्बुधिपरतटं राजकान्यप्यवापुः
स्कन्धावारैः सह नहि परोलक्षसद्यानपात्रैः ॥ ४३ ॥

'अथो' अनन्तरं 'यदुपरिवृढः' कृष्णो भर्तुरग्रे दक्षिणं निजभुजं 'व्यातत्य' विस्तार्य अस्थात्। किंविशिष्टं निजभुजम्? 'पुष्कराग्रं' पुष्करेण कमलेन अग्रं प्रधानम्। करे कमलं हि लक्षणं वर्त्तते। अथवा पुष्करवत् कमलवदग्रं यस्य तम्। क इव? 'मत्तहस्तीव' यथा मत्तहस्ती 'हस्तं' शुण्डादण्डं व्यातत्य तिष्ठति। किंरूपं हस्तम्? पुष्करं—पुष्करसंज्ञकमग्रं यस्य तं पुष्कराग्रम्। शुण्डादण्डस्याग्रं पुष्करं कथ्यते। अथ भुजस्य बलमानमाह—'राजकान्यपि' राजसमूहा अपि 'स्कन्धावारैः' महासैन्यैः सह 'यस्य' भुजस्य 'द्युम्नाम्बुधिपरतटं' बलसमुद्रपारं नावापुः। एतावता षोडश राजसहस्राः ससैन्या अपि यस्य भुजस्य बलपारं न यान्ति "सोलस रायसहस्सा०" इत्यागमप्रामाण्यात्। किंविशिष्टैः स्कन्धावारैः? 'परोलक्षसद्यानपात्रैः' परोलक्षाणि—लक्षातीतानि सन्ति—प्रधानानि यानानि—वाहनानि गजाश्वरूपाणि तेषां पात्रैः—स्थानैः। श्लेषेण प्रतीयमानमर्थान्तरं यथा-अम्बुधेः—समुद्रस्य तीरं स्कन्धावारैर्लोकरूढिप्रसिद्धैरत्यन्तगरिष्ठवहनसमूहैर्न प्राप्यते। किंरूपैः स्कन्धावारैः? परोलक्षाणि सन्ति—विद्यमानानि यानपात्राणि प्रवहणानि येषु। अत्र राज्ञां समूहा राजकानि "गोत्रोक्षवत्सोष्ट्रवृद्धाऽजोरभ्रमनुष्यराजराजन्यराजपुत्रादकञ्" (सि० ६–२–१२) इत्यकञ्। लक्षात्पराणि परोलक्षाणि "परः शतादि" (सि० ३–१–७५) इति पञ्चमीतत्पुरुषः। सूत्रबलादेव परः सविसर्गः। अत्रोपमाश्लेषोदात्तानि ॥ ४३ ॥

हस्ते सव्ये स्पृशति किमपि स्वामिनोऽनेकपस्या-
नंस्तास्कन्धं हरिभुजलता सा स्वयं स्तब्धितापि ।
मेरुं दण्डं क्षितितलमथ च्छत्रमाधातुमीष्टे
यस्तस्यैतत्किमिति च सुरास्तत्र संप्रावदन्त ॥ ४४ ॥

सा हरिभुजलता 'स्तब्धितापि' भृशं दृढीकृतापि 'आस्कन्धं' स्कन्धं यावत् स्वयं 'अनंस्त' नता । क सति? 'स्वामिनः' श्रीनेमिनाथस्य 'सव्ये' वामे हस्ते 'किमपि' अल्पमात्रं स्पृशति सति । स्वामिना मनागेव वामभुजेन लीलयाऽऽक्रम्य कृष्णस्य बाहा स्कन्धं यावद्वालितेत्यर्थः । किंरूपस्य स्वामिनः? 'अनेकपस्य' अनेकान् पाति रक्षतीत्यनेकपस्तस्य । अत्र प्रतीयमानमर्थान्तरम्—अन्यस्याप्यनेकपस्य हस्तिनो हस्ते—शुण्डादण्डे किञ्चित्स्पृशति सति लता 'आस्कन्धं' यावत्प्रकाण्डं नमति । 'च' अन्यत् 'सुराः' देवाः 'तत्र' समये इति 'संप्रावदन्त' संभूय सममेवोचुः । इतीति किम्? 'यः' भगवान् मेरुं दण्डं 'अथ' अनन्तरं 'क्षितितलं' पृथ्वीतलं छत्रं 'आधातुं' रचयितुं 'ईष्टे' समर्थो भवति तस्य 'एतद्' हरिभुजावालनं 'किम्?' न किञ्चिदित्यर्थः । अनंस्तेति "भूपार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ" (सि० ३-४-९३) इति कर्मकर्तरि ञिक्निषेधः । स्वामी बाहामनमयद्, बाहा स्वयमनंस्त । आस्कन्धमिति "पर्यपाङ्वहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३-१-३२) अनेन पञ्चम्यव्ययीभावः । संप्रावदन्तेति "व्यक्तवाचां सहोक्तौ" (सि० ३-३-७९) इत्यात्मनेपदम् । सव्ये हस्ते इति पर्यायोक्तम् । स्वामिनाऽक्लेशेन बाहा वालितेत्यर्थस्य लभ्यमानत्वात्किमपीति पदमेतदर्थोद्योतकम् । भुजलतेति समासोक्तम् । मेरुं दण्डमित्यर्थान्तरन्यासः, निषेध उदात्तं वा, युगपत्क्रियारूपः समुच्चयश्च । "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।" (का० १०, १०६) इति ॥ ४४ ॥

मद्दोर्दण्डोऽप्यहह सहसा नागलक्षैरनम्यः
　श्रीशैवेयं प्रति कथमसौ पद्मतन्तूयते स्म ।
यद्वा न्यायोऽजनि विधिवशात्काकतालीयकोऽसौ
　तत्कृत्वाऽस्य प्रतिकृतिमहं तुल्यवीर्योऽप्यसानि ॥ ४५ ॥
आस्यच्छायैरिति निगदतो देवकीनन्दनस्य
　त्रैलोक्येशस्तृणितकुलिशं वाममायंस्त बाहुम् ।
अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्य दित्सुः
　कारुण्येनाशुभदिव तदा चैष हस्तावलम्बम् ॥४६॥ युग्मम् ॥

'त्रैलोक्येशः' श्रीनेमिनाथो वामं बाहुं 'आयंस्त' विस्तारयामास । कस्य किंकुर्वतः? 'देवकीनन्दनस्य' कृष्णस्य 'आस्यच्छायैः' मुखच्छायाभिरिति निगदतः सतः । इतीति किम्? मद्दो० 'अहह' इति खेदे, असौ 'मद्दोर्दण्डोऽपि' मम भुजादण्डोऽपि 'सहसा-झटिति 'श्रीशैवेयं प्रति' श्रीनेमिनाथं प्रति कथं 'पद्मतन्तूयते स्म?' पद्मतन्तुरिवाचरति स्म? । यथा पद्मतन्तुः सुखेन नम्यते तथा नत इत्यर्थः । किंरूपो मद्दोर्दण्डः? 'नागलक्षैः' गजलक्षैर' नम्यः । इति प्रथमचिन्तायामतिश्यामा मुखच्छाया । 'यद्वा' अथवा असौ विधिवशात् 'काकतालीयको न्यायोऽजनि' यथा तालस्याधः काको निविष्टोऽकस्मात्तालफले पतिते काको विनष्टः, एवं मद्बाहुरपि दैवानुभावादेव सहसा नतो न तु नेमिनोऽधिका बलसंभावनेति द्वितीयचिन्तायां मध्यमा मुखच्छाया । 'तत्' तस्मात्कारणादहमस्य प्रतिकृतिं कृत्वा तुल्यं वीर्यं बलं यस्य ममेति तुल्यवीर्योऽपि 'असानि' भवानि । यथाऽनेन मद्बाहुर्नामितस्तथाऽहमप्येतस्य बाहुं नमयामीति प्रतिकृतिरिति चिन्तायां हृष्टप्राया छाया । किंविशिष्टं बाहुम्? 'तृणितकुलिशं' तृणीकृतं कुलिशं—वज्रं येन स तम्, वज्रमपि यस्याग्रेऽसारत्वात्तृणप्रायमिवेत्यर्थः । 'च' अन्यत्तदा 'एषः' भगवान् 'अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्य कारुण्येन

हस्तावलम्बं दित्सुरिवाशुभत्' पङ्कः पापं कर्दमश्च पङ्कस्यान्तरन्तः- पङ्कं अन्तःपङ्कं आकुलितः कलित आतङ्को येन स कलितातङ्कः अन्तःपङ्काकुलितश्चासौ कलितातङ्कश्च अन्तःपङ्काकुलित- कलितातङ्कः, अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कश्चासौ लोकश्च अन्तः- पङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्तस्य बाहुं विस्तार्य स्थितो भगवान् । पङ्कमध्ये आकुलितानां सभयानां लोकानां समुद्धरणाय कारुण्येन हस्तावलम्बं दास्यतीति ज्ञायते । अत्र काकतालस्य तुल्यः 'काक- तालीयः "काकतालीयादयः" (सि० ७–१–११७) इति साधु- स्ततः स्वार्थे कः । असानीति असक् भुवि, अस्, "प्रैषानुज्ञाव- सरे कृत्यपञ्चम्यौ" (सि० ५–४–२९) इति पञ्चमी, तत आनिव्प्रत्यये सिद्धम् । आस्यच्छायैरिति "सेनाशालासुराछाया" (हे० लि० नपुं० १२ श्लो०) इति न पुंस्त्वम् । तृणितेति तृणमक- रोत् "णिज्बहुलं नाम्नः कृगादिषु" (सि० ३–४–४२) णिच्, "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः । तृण्यते स्म क्त, इट्, "सेट्क्तयोः" (सि०४–३–८४) णिज्लोपः । आयंस्तेति "आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च" (सि० ३–३–८६) इत्यात्मनेपदम् । अत्र मद्दो० द्रव्यक्रियाविरोध उपमा पर्यायोक्तं च । पद्मतन्तूयते स्मेति नम्रीभूत इत्यर्थस्य वाच्यमानत्वाद् यद्वेत्यर्थान्तरन्यासः । आस्यच्छायैरित्यनुमानम् । अन्तःपङ्का० उत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

पूर्वं पार्ष्णी तदनु सकले गोहिरे भूमिपीठा-
दुच्चैर्नीत्वा भुजबलचयीः पीडयन् सर्वदेहम् ।
अत्यायस्यन्नपि हरिरुभापाणि नानीनमत्तां
बाहामब्धिप्रसृतहिमवद्दीर्घदंष्ट्रामिवेभः ॥ ४७ ॥

'हरिः' कृष्ण उभापाणि यथा भवति 'अत्यायस्यन्नपि' अतिय- तमानोऽपि तां बाहां नाऽनीनमत् । उभाभ्यां पाणिभ्यां कृत्वा उभापाणि, एकेन बाहुनाऽऽक्रान्तो हस्तो यदा न नमति तदा

द्वाभ्यामपि भुजाभ्यामाक्रान्त इत्यर्थः । तत्र भुजानमने श्रीकृष्णस्य प्रयासातिरेकमाह—किं कृत्वा पूर्वं पार्ष्णी तदनु सकले गोहिरे भूमिपीठादुच्चैर्नीत्वा । पार्ष्णि पादाग्रम् । गोहिरं पादमूलम् । किंरूपो हरिः ? 'भुजबलचयीः' भुजे बलस्य चयमिच्छन् । किं कुर्वन् ? 'सर्वदेहं पीडयन्' सर्वस्यापि शरीरस्य प्राणं भुजे एव समागच्छतीति कृत्वा । क इव ? 'इभ इव' यथा इभः 'अब्धिप्रसृतहिमवद्दीर्घदंष्ट्राम्' न नमयति अब्धौ—समुद्रे प्रसृता—विस्तीर्णा दीर्घा चासौ दंष्ट्रा च दीर्घदंष्ट्रा हिमवतो दीर्घदंष्ट्रा हिमवद्दीर्घदंष्ट्रा ताम् । हिमवान् पर्वतो जम्बूद्वीपाद्बहिर्लवणसमुद्रे दंष्ट्राकारेण पूर्वस्यां पश्चिमायां षट्पष्टियोजनशतानि दीर्घो वर्त्तते । अत्र भुजबलचयीर्भुजबलस्य चयमिच्छतीति "अमाव्ययात्क्यन् च" (सि० ३–४–२३) क्यन् प्रत्ययः, "क्यनि" (सि० ४–३–११२) यी भुजबलचयीयतीति "क्विप्" (सि० ५–३–१४८) क्विप्, "अतः" (सि० ४–३–८२) अलोपः, "योः प्वय्व्यञ्जने लुक्" (सि० ४–४–१२१) यलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) क्विप्लोपः सि, "सो रुः" (सि० २–१–७२) । उभाभ्यां पाणिभ्यां कृत्वा उभापाणि "द्विदण्ड्यादिः" (सि० ७–३–७५) इच्प्रत्यय उभापाणीति निपातः "क्रियाविशेषणात्" (सि० २–२–४१) अम्, लोपश्च । अत्र विशेषोक्तिपरिकरोपमानानि ॥ ४७ ॥

अद्रेः शाखां मरुदिव मनाक्चालयित्वा सलीलं
स्वामी बाहां हरिमिव हरिं दोलयामास विष्वक् ।
तुल्यैर्गोत्राज्जयजयरवोद्घोषपूर्वं च मुक्ताः
सिद्धस्वार्थं दिवि सुमनसस्तं तृषेवाभ्यपप्तन् ॥ ४८ ॥

स्वामी 'विष्वक्' समन्तात् 'हरिमिव' वानरमिव 'हरिं' कृष्णं दोलयामास । किं कृत्वा ? सलीलं यथा भवति बाहां मनाक् चालयित्वा । क इव ? 'मरुदिव' वायुरिव यथा मरुद् 'अद्रेः'

वृक्षस्य शाखां चालयित्वा हरिं वानरं दोलयति । 'च' अन्यत् सुमनसः तं भगवन्तं अभ्यपप्तन् । किंविशिष्टाः सुमनसः? 'गोत्रात्' नाम्नः 'तुल्यैः' सुमनोभिः 'दिवि' आकाशे जयजयरवोद्घोषपूर्वं मुक्ताः । सुमनसो देवाः पुष्पाणि च । गगनाङ्गणे देवैर्जयजयारावमुच्चरद्भिः कुसुमवृष्टिः कृतेत्यर्थः । किंरूपं तम्? 'सिद्धस्वार्थं' सिद्धो निष्पन्नः स्वार्थे आत्मार्थो यस्य तम् । उत्प्रेक्ष्यते 'तृषा इव' लोभेनेव यथान्येऽपि गोत्रादन्वयात्तुल्यैः सगोत्रैर्मुक्ता आक्षिप्तास्तृष्णया सिद्धस्वार्थं पुरुषमभिपतन्ति । सिद्धो —निष्पन्नः स्व—आत्मीयोऽर्थो यस्मात्तम् । ये गोत्रिभिर्मुक्ता भवन्ति ते निराधाराः सन्तो यस्मात्स्वार्थः सिध्यति लोभेन तं श्रयन्ति । अद्रेरित्यनेकार्थमपि परं शाखासंयोगाद्वृक्षवाचकमिति न संदिग्धदोषः । ''तृट् तृष्णावत्तर्षवच्च भवेल्लिप्सापिपासयोः ।'' (हैम अने० १–१५) इति तृट् लोभवाची । अत्रोपमाशब्दश्लेषोत्प्रेक्षाक्रियासमुच्चयाः॥४८॥

वीक्षापन्नोऽप्यधिहसमुखो दोषमुन्मुच्य दोष्मा-
नङ्कपालिं ददिति हरिः स्वामिनं व्याजहार ।
भ्रातः! स्थाम्ना जगति भवतोऽजय्यमेवासमद्य
प्रद्युम्नाग्नी इव मधुनभःश्वाससाहायकेन ॥ ४९ ॥

'हरिः' कृष्णः 'अङ्कपालिं' आलिङ्गनं ददत्सन् स्वामिनं इति 'व्याजहार' उवाच । किंरूपो हरिः? 'वीक्षापन्नोऽपि' विलक्षोऽपि 'अधिहसमुखः' अधिको हसो हास्यं यस्मिन्नेवंविधं मुखं यस्य । किं कृत्वा? 'दोषं' भुजमुन्मुच्य, 'दोष्मान्' बलिष्ठः । किमाह? हे भ्रातः! अद्याहं भवतः 'स्थाम्ना' बलेन 'जगति' विश्वे अजय्य एव 'आसं' अभवम् । परैर्जेतुमशक्योऽजय्यः । अग्रेऽप्यहं बलवानस्मि परं त्वद्बलेन सर्वत्राप्यजय्यो भविष्यामीत्यर्थः । काविव? 'प्रद्युम्नाग्नी इव' यथा प्रद्युम्नाग्नी कामानलौ 'मधुनभःश्वाससाहायकेन' मधुः—वसन्तो नभःश्वासो-वायुस्तयोः साहाय्येनाजय्यौ भवतः ।

जेतुमशक्योऽजय्यः, "य एचातः" (सि० ५-१-२८) यप्रत्ययः "क्षय्यजय्यौ शक्तौ" (सि० ४-३-९०) इति निपातः। वीक्षापन्नोऽपीत्यादि धैर्यव्यभिचारिभावोदयः । उदात्तमालोपमानुप्रासाः ॥ ४९ ॥

तेनात्यन्तं किमपि हलिनालोच्य सौभ्रात्रभाजा
सर्वस्वेच्छाललनविषयेऽभ्यर्थितोऽत्यादरेण ।
भ्राजिष्णुश्रीरथ स विदधन्नर्मकर्माणि जिष्णोः
शुद्धान्तेऽप्यस्खलितगतिकोऽद्वेषरागश्चिखेल ॥ ५० ॥

'अथ' अनन्तरं 'सः' भगवान 'जिष्णोः' कृष्णस्य 'शुद्धान्तेऽपि' अन्तःपुरेऽपि 'नर्मकर्माणि' हास्यकर्माणि 'विदधन्' कुर्वन् अस्खलितगतिकः सन् 'चिखेल' चिक्रीड । किंरूपः सः? 'तेन' कृष्णेन 'हलिना' बलदेवेन सह किमप्यत्यन्तमालोच्य 'सौभ्रात्रभाजा' सुभ्रातृत्वभाजा सता सर्वस्वेच्छाललनविषयेऽत्यादरेणाभ्यर्थितः । सर्वस्वेच्छया ललनं—क्रीडनं तद्विषये, सम्बन्धश्चायम्—"तदा कृष्णः श्रीनेमिना सह प्रीतिवार्त्तां विधाय बलदेवेन सह मन्त्रार्थं लक्ष्मीगृहमगात् तत्र बह्वालोचितम् । राज्ञां गूढमन्त्रत्वाद्राजीमती न वेत्ति किमालोचितमिति । तत्र श्रीकृष्णो बलदेवमेवमवादीन्, यद्बन्धो! दृष्टं नेमिबाहुबलम्? । एषः 'कीटिकासञ्चितं तित्तिरिश्चिनोति' इति न्यायेनात्मभिर्भूरितरसंग्रामक्लेशकोटिभिः समर्जितं राज्यमवसरे हेलया लास्यतीति नास्य विश्वासः कर्तुमर्हं इति यावद्वक्ति तावल्लक्ष्मीदेव्या 'नेमिकुमारः पाणिग्रहणराज्याङ्गीकरणपराङ्मुख एव प्रव्रजिष्यति' इति श्रीनमिनाथेनोक्तमस्तीत्यूचे, तच्छ्रवणाद्विमुक्तशङ्कः समुल्लसितनिबिडभ्रातृस्नेहः स्वसौधमागत्य श्रीनेमिनमाकार्य सस्नेहमूचिवान् । बान्धव! त्वयाऽस्मदनुग्रहार्थं मत्सौधान्तःपुरेऽपि स्वभ्रातृजायाभिः सह निःशङ्कतया नर्मकर्मादिक्रीडा कर्त्तव्या ।" किंरूपः? भ्राजिष्णुर्देदीप्यमाना श्रीः शोभा यस्य स भ्राजिष्णुश्रीः ।

पुनः किंरूपः? 'अद्वेषरागः' अन्तःपुरे स्वजनेच्छया क्रीडन्नपि भगवान् रागद्वेषकलङ्ककणिकारहित एव । अत्र सौभ्रात्रमिति शोभनो भ्राता सुभ्राता सुभ्रातुर्भावः सौभ्रात्रम्, "युवादेरण्" (सि० ७–१–६७) अण्प्रत्ययः । भ्राजते इत्येवं शीलः "भ्राज्य-लङ्कृगॄनिराकृग्–" (सि० ५–२–२८) इष्णुप्रत्ययः । अत्र परिकरविशेषोक्त्यनुप्रासाः । नर्मकर्मादिकारणेऽपि रागद्वेषानुत्पत्ति-र्विशेषोक्तिः ॥ ५० ॥

इत्याचार्य–श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-महाकाव्यटीकायां प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः ।

प्रथमे सर्गे श्रीनेमिनो रूपवर्णनादनु शङ्खपूरणहरिभुजानामनादिक्रीडोक्ता । अथ वसन्तक्रीडाप्रस्तावनार्थं वसन्तवर्णनमाह—

एवं दिष्टे व्रजति जनयन्नध्वनीनाङ्गनानां
विश्वस्तत्वं यमनियमभीदायको व्याप्तविश्वः ।
विश्वाधीशं प्रति रतिपतेरभ्यमित्रीणतस्तं
प्रादुर्भूतः सुरभिरभितः किं नु नासीरवीरः ? ॥ १ ॥

'एवं' अमुना प्रकारेण विविधक्रीडाकौतुकेन 'दिष्टे' काले व्रजति सति 'अभितः' समन्तात् 'सुरभिः' वसन्तः 'प्रादुर्भूतः' प्रकटीबभूव । किंभूतः सुरभिः ? 'नु' इति वितर्के 'रतिपतेः' कामस्य किम् ? 'नासीरवीरः' नासीरमग्रयानं तत्र वीरो नासीरवीरः—अग्रेसरवीरः सेनानीरित्यर्थः । किं कुर्वन् ? 'अध्वनीनाङ्गनानाम्' पथिकस्त्रीणां 'विश्वस्तत्वं' विधवत्वं जनयन्, वसन्ते हि फलितपुष्पितलताविलोकनकोकिलाकूजितश्रवणदक्षिणपवनादिभिरुन्मादजनकैर्वियोगार्त्तानां पथिकानां मरणसद्भावात् । पक्षेऽध्वनीनाङ्गनानां विश्वस्तत्वं विश्वाससहितत्वं जनयन् सेनानीः हि अग्रगः सन् त्रस्यन्तीनां स्त्रीणां मा भैर्षुरिति[1] विश्वासं जनयति । पुनः किंभूतः ? 'यमनियमभीदायकः' यमाः—पञ्चव्रतानि नियमाः सत्यशौचाद्यास्तेषां भियं ददातीति यमनियमभीदायकः । पक्षे यमवन्नियमं बन्धनं तस्य भियं ददातीति यमनियमभीदायकः । सेनान्यमागच्छन्तमकस्माद्विलोक्य जना बन्धनाद्बिभ्यति । पुनः किंरूपः ? व्याप्तं विश्वं येन सः । पक्षे व्याप्ता विश्वा पृथ्वी येन सः । किंभूतस्य रतिपतेः ? तं 'विश्वाधीशं' श्रीनेमिनं प्रति 'अभ्यमित्रीणतः' अभ्यमित्रीण इवाचरतः, सज्जीभूय युद्धाय योऽभिमुखं गच्छति सोऽभ्यमित्रीणः । श्रीनेमिनं जिगीषोः कामस्य सेनानीरिव

---

१ "भैष्ट इति" इति प्रत्यन्तरे.

वसन्तर्तुः समेत इत्यर्थः । अध्वानमत्यन्तं गच्छतीति "अध्वानं येनौ" (सि० ७-१-१०३) ईनप्रत्ययः । अमित्रमभि अत्यन्तं गच्छतीति "अभ्यमित्रमीयश्च" (सि० ७-१-१०४) ईनप्रत्ययः, "रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽ-" (सि० २-३-६३) नो णः, अभ्यमित्रीण इवाचरतीति "कर्तुः क्विप्-" (सि० ३-४-२५) अप्रत्ययः, अभ्यमित्रीणतीति वर्त्तमाने शतृ । "प्रादुराविः प्रकाशे" (अ० चिं० कां० ६ श्लो० १७५) । श्लेष उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

अथ रतिपतेरभ्यमित्रीणत इत्युक्तं तत्र वसन्तवर्णने कामस्य युद्ध-सज्जतामष्टभिः काव्यैः कथयति कविः—

वानस्पत्याः कलकिशलयैः कोशिकाभिः प्रवालै-
स्तस्याराजन्निव तनुभृतो रागलक्ष्मीनिवासाः ।
उद्यन्मोहप्रसवरजसा चाम्बरं पूरयन्तोऽ-
भीकाभीष्टा मलयमरुतः कामवाहाः प्रसस्रुः ॥ २ ॥

पूर्वं पुष्पाणि तदनु फलानि येषां स्युस्ते वनस्पतयः, "पुष्पैस्तु फलवान् वृक्षो वानस्पत्यो विना तु तैः ॥ फलवान् वनस्पतिः स्यात्" (अ० चिं० कां० ४ श्लो० १८१-१८२) इति 'वानस्पत्याः' वृक्षाः 'तस्य' रतिपतेः 'तनुभृतः' मूर्त्ताः रागलक्ष्मीनिवासा इव अराजन् । अन्यस्मिन्नपि सैन्ये लक्ष्मीयुक्ता निवासा भवन्ति, कामस्य लक्ष्मी राग एव, तस्या मूर्त्तिमन्तो निवासा इव वृक्षाः । कैः ? 'कलकिशलयैः' नवीनतरमनोज्ञपत्रैः 'कोशिकाभिः' प्रवालोत्पत्तिकारणशुङ्गाभिः 'प्रवालैः' नवीनतरपल्लवैः, एते सर्वेऽपि रक्ता भवन्ति अतो रागत्वेऽपि वितर्किताः । 'च' अन्यत् 'मलयमरुतः' मलयाचलसम्बन्धिवायवः 'प्रसस्रुः' प्रसृताः । किंरूपा मलयमरुतः ? उद्यन् उदयं गच्छन् मोहो मनोरागो येभ्यस्ते उद्यन्मोहाः प्रसवाः—पुष्पाणि तेषां रजसा किञ्जल्केन 'अम्बरम्' आकाशं पूरयन्तः । पुनः किंरूपाः ? अभीकानां कामिनामभीष्टाः । पुनः कथंभूताः ? कामेन स्वेच्छया वाहो

वहनं मार्गातिक्रमणं येषां ते, अथवा कामस्य वाहाः—हया इव काम-वाहा मलयानिला एव कामस्य वाहाः, वाहाः कीदृशा भवन्ति? उद्यन् प्रबलीभवन् मोहस्य मौढ्यस्य प्रसव उत्पत्तिर्यस्मात् ईदृशेन रजसा रेणुना आकाशं पूरयन्तः, तुरङ्गाः (हि) वेगेन गच्छन्तः खुराघातैर्भूरेणुमुत्पाटयन्ति, तेन च पदार्थानामदर्शनेन मौढ्यं स्यात्। पुनः कथंभूताः? अभीका निर्भयाः तेषामभीष्टाः, कातरा हि पातनपदाघातादिभीत्या तुरगाणामासन्न एव नायान्ति। अत्रापह्नुतिरूपकश्लेषोत्प्रेक्षाः ॥ २ ॥

रेजुः क्रीडौपयिकगिरयो राजतालीवनाढ्याः
श्यामाः कामं किशलितनगा निष्कमोचापरीताः।
सन्नह्यन्तः स्मरनरपतेः केतनव्रातकान्ताः
सिन्दूराक्ता इव करटिनो वर्ण्यसौवर्णवर्णाः ॥ ३ ॥

क्रीडौपयिकगिरयो रेजुः क्रीडायाः—वनविहारपुष्पावचयनजलावगाहनादिरूपाया औपयिकाः—योग्याः (गिरयः) 'रेजुः' अशुभन्। किंरूपाः? राजतालीवनानि—श्रीताडवनानि तैराढ्याः समृद्धाः, श्यामाः, 'कामम्' अत्यर्थं किशलिताः सञ्जातकिशलयाः नगाः—वृक्षा येषु ते। निष्कं—सुवर्णं तद्रूपा मोचाः—कदल्यः ताभिः सुवर्णकदलीभिः परीताः—वेष्टिताः। उत्प्रेक्ष्यते—'स्मरनरपतेः' कामभूपस्य सन्नह्यन्तः 'करटिनः' गजेन्द्रा इव। किंरूपाः करटिनः? केतनानां—ध्वजानां व्रातेन—समूहेन कान्ताः। सिन्दूरेण अक्ता लिप्ताः। वर्ण्यो वर्णनीयः सौवर्णः सुवर्णमयो वर्णो गुडिर्येषां ते "कुथे वर्णपरिस्तोमः" (अ० चि० कां० ३-३३४) इति वचनात्। राजतालीवनानि केतनव्राताः, किशलयानि सिंदूरः, सुवर्णकदल्यः सुवर्णकुथाः, वनैः श्यामीभूताः पर्वताः करिण इति साधर्म्यम्। "राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ" राज्धातोः परोक्षा उसि प्रत्यये "जृभ्रम-" (सि० ४-१-२६) इति एकारे रेजुरिति रूपम्, भ्रेजुरिति न

भवति आजिधातोरात्मनेपदीयत्वादेव । उपाय एव औपयिकः "उपायाद् ह्रस्वश्च" (सि० ७-२-१७०) इकण् ह्रस्वः । किशलानि संजातानि येषु ते किशलिताः "तदस्य सञ्जतं तारकादिभ्य इतः" (सि० ७-१-१३८) इतप्रत्ययः । सुवर्णस्य विकारोऽवयवो वा सौवर्णः "हेमादिभ्योऽञ्" (सि०६-२-४५) अञ्प्रत्ययः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ३ ॥

कासारान्तः शुचिखगरुचिः स्मेरराजीवराजी
रेजे राजप्रतिमकमनस्यातपत्रावलीव ।
शोभां भेजुः कुसुमिततमाः कुन्दशालासु गुल्मा
वातोद्धूता मरकतमहादण्डसच्चामराणाम् ॥ ४ ॥

'कासारान्तः' सरोमध्ये 'स्मेरराजीवराजी' विकस्वरकमलश्रेणी रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—'राजप्रतिमकमनस्य' भूपरूपकामस्य 'आतपत्रावलीव' छत्रावलीव । किंरूपा स्मेरराजीवराजी ? 'शुचिखगरुचिः' शुचिरुज्ज्वलः खगः—पक्षी राजहंसस्तेन रुचिः—शोभा यस्याः, अथवा शुचौ निर्मले खगे श्रीसूर्ये रुचिः—इच्छा यस्याः सा सूर्यस्य प्रबोधदायित्वात्, पक्षे शुचिः—पवित्रा खगा—आकाशगामिनी रुचिः कान्तिर्यस्याः, अथवा शुचेः—आषाढस्य खगः—सूर्यः तद्वद्रुचिः—कान्तिर्यस्याः सा । 'कुन्दशालासु' कुन्दानां शाखासु 'गुल्माः' स्तम्बाः 'मरकतमहादण्डसच्चामराणां शोभां भेजुः' मरकतरत्नस्य महादण्डे सन्तः—प्रशस्ताश्चामरास्तेषाम् । किंरूपा गुल्माः ? 'कुसुमिततमाः' अत्यर्थं संजातकुसुमाः । पुनः किंरूपाः ? वातेन उत्प्राबल्येन धूताः—कम्पिताः । शाखा मरकतदण्डाः, गुल्माः चामराः । अत्र श्लेषोत्प्रेक्षाऽनुप्रासोपमापर्यायोक्तानि ॥ ४ ॥

संक्रीडन्तः सुषममभितो राजहंसाः सरस्सु
प्राक्रीडन्त प्रति परपुरं कम्बवो नु प्रवेश्याः ।
चूताच्चूतान्तरमभियती रक्ततुण्डायताली
लीलां दध्रे दलकिशलयामुक्तमङ्गल्यदाम्नः ॥ ५ ॥

राजहंसाः सरस्सु 'प्राक्रीडन्त' प्रकर्षेण अक्रीडन् । किं कुर्वन्तः ? 'सुषमं' मनोज्ञं यथा भवति 'अभितः' समन्तात् 'संक्रीडन्तः' कूजन्तः, किंरूपा राजहंसाः ? 'नु' इति वितर्के अधिकारात् कामनरेन्द्रस्य परपुरं प्रति 'प्रवेश्याः' प्रवेशे साधवः 'कम्बवः' शङ्खाः, अन्योऽपि राजा यदा परस्य वैरिणः पुरं प्रविशति तदा शङ्खा वाद्यन्ते, कामस्यापि परस्य-अन्यस्य पुरं-शरीरं प्रति प्रवेशे कूजन्तो राजहंसा एव शङ्खाः । 'चूतात्' आम्रात् चूतान्तरम् 'अभियती' अभिमुखं गच्छन्ती 'रक्ततुण्डायताली' रक्ततुण्डाः शुकास्तेषामायता दीर्घा आली—श्रेणिः 'दलकिशलयामुक्तमङ्गल्यदाम्नः' दलैः—पत्रैः किशलयैश्च यत् आमुक्तं बद्धं मङ्गल्यदाम वन्दनमालिका तस्य लीलां दध्रे । दलस्थानीया नीलवर्णाः शुकाः, पल्लवस्थानीयानि तेषामारक्तानि मुखानि, यदैकस्मादाम्रादुड्डीय श्रेणिबद्धा नीलवर्णा आरक्तमुखाः शुकाः समकालमेव सहकारान्तरमभियान्ति तदा कामराजस्य परपुरं प्रति प्रवेशे वन्दनमालिकाशोभा भवति । संक्रीडन्त इत्यत्र कूजनार्थत्वात् परस्मैपदित्वे शतृप्रत्ययः, अन्यथा "क्रीडोऽकूजने" (सि० ३–३–३३) इति सूत्रेण संपूर्वकस्य क्रीडधातोरात्मनेपदित्वं स्यात् । प्राक्रीडन्तेति "क्रीडृ विहारे" प्र-आङ्पूर्वकः, "अन्वाङ्परेः" (सि० ३–३–३४) इत्यात्मनेपदम् । अभियती इत्यत्र "इणक् गतौ" इ अभि एतीति वर्तमाने "शत्रा–" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्ययः अत्, "ह्णिणोरप्विति व्यौ" (सि० ४–३–१५) (इति) यत्वम् । "मभिभजद्रक्त–" इति अपपाठः । अत्रोत्प्रेक्षानिदर्शनानुप्रासाः ॥ ५ ॥

उच्चैश्चञ्चुः प्रतिदिशमविस्पन्दमाकन्दनाग-
स्कन्धारूढाः कलकलरवान् कोकिलाः कान्तकण्ठाः ।
संनह्यन्तं त्रिभुवनजये कामराजं जिगीषून्
नग्नप्रष्ठा इव यतिभटान् धीरमाह्वानयन्तः ॥ ६ ॥

कोकिलाः 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति उच्चैः 'कलकलरवान्' कलकलशब्दान् चक्रुः । किंरूपाः कोकिलाः ? अविस्पन्दः—निश्चलो माकन्दनागः—सहकारवृक्षः तस्य स्कन्धं—प्रकाण्डं तत्रारूढाः । पुनः किं विशिष्टाः ? 'कान्तकण्ठाः' स्फुटम् । पुनः किंरूपाः ? उत्प्रेक्ष्य-(क्ष)ते—यतय एव भटाः सुभटाः तान् 'धीरं' सावष्टम्भं यथा भवति आह्वानयन्तो 'नग्नप्रष्ठा इव' नग्नाः—बन्दिनस्तेषु प्रष्ठाः—श्रेष्ठाः, सङ्ग्रामे हि बन्दिनो वंशपराक्रमादिवर्णनं कुर्वन्तः सुभटान् परस्परमुत्थापयन्ति । किंरूपा नग्नप्रष्ठाः ? 'अविस्पन्दमाकन्दनाग-स्कन्धारूढाः' न विद्यते विस्पन्दश्चलनं यस्याः साऽविस्पन्दा, अवि-स्पन्दाया निश्चलाया मायाः लक्ष्म्याः कन्दो यो नागो हस्ती तस्य स्कन्धमारूढाः । किंरूपान् यतिभटान् ? त्रिभुवनजये 'संनह्यन्तं' सज्जीभवन्तं कामराजं 'जिगीषून्' जेतुमिच्छून् । सर्वदिशासु सह-कारारूढाः कोकिलाः कलकलरवं कुर्वाणास्त्रिभुवनजयबद्धकक्षं कामराजं प्रति युद्धाय यतिभटानाकारयन्तो बन्दिन इवेत्यर्थः । दिश (श्)दिशा शब्दद्वयं । अत्रोत्प्रेक्षारूपकोदात्तानुप्रासाः ॥ ६ ॥

किञ्चित्प्रेक्ष्या दरविकसितेष्वार्तवेषु प्रसूने-
ष्वन्तर्गूढाः शुशुभुरभितः पिञ्जराः केसराल्यः ।
शाखोच्चण्डेष्विव तनुभुवो वीरतूणीरकेषु
क्षिप्ता दीप्ता विशिखविसराः कान्तकल्याणपुङ्खाः ॥ ७ ॥

'अभितः' समन्तात् 'दरविकसितेषु' ईषद्विकसितेषु आर्तवेषु प्रसूनेषु 'पिञ्जराः' पिङ्गाः केसराल्यः शुशुभुः । येषां पुष्पाणामृतुः प्राप्तो भवति तानि आर्तवानि तेषु । किंरूपाः केसराल्यः ? 'किञ्चित्' अल्पमात्रं 'प्रेक्ष्याः' दृश्याः 'अन्तः' मध्ये 'गूढाः' गुप्ताः । उत्प्रेक्ष्य(क्ष)-ते—'तनुभुवः' कामस्य 'वीरतूणीरकेषु' वीरनिषङ्गेषु क्षिप्ताः 'विशिखविसराः' बाणसमूहा इव । कुसुमानि तूणीराः, केसरश्रेणी सरलधर्मत्वाद्बाणावलिः । किंरूपेषु वीरतूणीरकेषु ? शाखासु उच्चण्डा

अवलगितास्तेषु । किंविशिष्टा विशिखविसराः ? दीप्ताः । पुनः कथंभूताः ? कान्ताः—मनोज्ञाः कल्याणस्य—सुवर्णस्य पुङ्खा येषां ते । यथा शाखावलगितेषु तूणीरेषु मध्ये गुप्ता किञ्चित्प्रकटा सुवर्णपुङ्खा शरावलिर्भवति तथा कुसुमेषु केसरावलिः संभाव्यते । ऋतुः प्राप्तोऽमीषामिति आर्तवानि "ऋत्वादेरण्" ("ऋत्वादिभ्योऽण्") (सि० ५-४-१२५) अण्प्रत्ययः । अत्र परिकरोत्प्रेक्षाऽनुप्रासाः ॥ ७ ॥

अग्रे तीक्ष्णं क्रमपृथु ततो नीलपत्रैः परीतं
पुष्पव्रातं दधुरभिनवं केतकीनां कलापाः ।
कोशक्षिप्तं कनककपिशं पत्रपालासिपुत्री-
प्रख्यास्त्राणां समुदयमिवानङ्गराजस्य जिष्णोः ॥ ८ ॥

'केतकीनां कलापाः' समूहा अभिनवं पुष्पव्रातं दधुः । किंरूपम् ? अग्रे मुखे तीक्ष्णम्, 'ततः' तदनन्तरं क्रमेण पृथु विस्तीर्णं नीलपत्रैः 'परीतं' वेष्टितम् । पुनः किंरूपम् ? उत्प्रेक्ष्यते—'जिष्णोः' जयनशीलस्य अनङ्गराजस्य 'पत्रपालासिपुत्रीप्रख्यास्त्राणाम्' पत्रपालो दीर्घाशस्त्रीपटासंज्ञकः असिपुत्री—शस्त्री तन्मुखशस्त्राणां समुदयमिव । किंरूपम् ? कोशे क्षिप्तं—स्थापितं कनकवत् कपिशं-पिङ्गम् । मुखे तीक्ष्णानि क्रमेण विस्तीर्णानि नीलपत्रवेष्टितानि केतकीदलानि कामस्य पत्ररूपकोशे क्षिप्तानि मुखे तीक्ष्णानि क्रमाद्विस्तीर्णानि कनकपिञ्जराणि पत्रपालशस्त्रीमुख्यशस्त्राणीव भान्तीत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ८ ॥

मूलौ मूले सरलशिखरिस्कन्धमाश्लिष्टवत्यो
मध्ये पुष्पस्तबकविनताः पौरकेषु व्रतत्यः ।
आमोदेनायतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणाः
प्रापुः पूर्णां सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठाम् ॥ ९ ॥

'पौरकेषु' बाह्यारामेषु 'व्रतत्यः' वल्ल्यः पूर्णां 'सशरमदनाधिज्य-

धन्वप्रतिष्ठां प्रापुः' शरेण बाणेन सह वर्तते इति सशरम्, अध्यारोपिता ज्या-प्रत्यञ्चा यत्र तद् अधिज्यम्, अधिज्यं च तद् धन्व च अधिज्यधन्व, मदनस्य अधिज्यधन्व मदनाधिज्यधन्व, पश्चात् सशरेण कर्मधारयः, तस्य प्रतिष्ठा सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठा ताम् । किंरूपा व्रतत्यः ? 'मूलौ' शिखरे 'मूले' आदौ सरलं शिखरिणः-वृक्षस्य स्कन्धं-प्रकाण्डम् 'आश्लिष्टवत्यः' आलिङ्गितवत्यः, मध्ये पुष्पाणां स्तबकेन 'विनताः' नम्राः 'आमोदेन' परिमलेन 'आयतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणाः' इत्यादि स्पष्टम् । अतोऽन्ते आदौ च वृक्षस्कन्धं श्लिष्टा अन्तः पुष्पस्तबकनम्राः धनुःस्थानीया वल्ल्यः, शररूपा भ्रमरश्रेणीत्यर्थः । अत्र निदर्शनाऽनुप्रासौ ॥ ९ ॥

मूर्ध्नि श्लिष्टभ्रमरपटलैः क्लृप्तशीर्षण्यरक्षाः
शाखाबाहाविधृतफलकाः कङ्कटद्वल्कवेष्टाः ।
पत्राङ्कूरैः पुलकिततमाः सारधर्मप्रकाण्डाः
कीरारावैः किलिकिलिकृतो भ्रेजिरे जर्णयोधाः ॥१०॥

'जर्णयोधाः' वृक्षभटाः 'भ्रेजिरे' राजिताः, अधिकारात् कामराजस्येति ज्ञेयम् । किंरूपाः ? 'मूर्ध्नि' शिखरे 'श्लिष्टभ्रमरपटलैः' संबद्धभ्रमरसमूहैः क्लृप्ता-रचिता शीर्षण्येन-शिरस्त्राणेन रक्षा यैस्ते, सुभटानां शीर्षे शिरस्त्राणो भवति, संबद्धानि भ्रमरपटलान्येव लोहमयं शिरस्त्राणम् । पुनः किंरूपाः ? शाखा एव बाहास्ताभिः विधृतानि फलानि यैस्ते शाखाबाहाविधृतफलकाः, योधपक्षे शाखा इव दीर्घा बाहाः शाखाबाहास्ताभिर्विधृतानि फलकानि आवरणानि यैस्ते । कङ्कटः कवचः तद्वदाचरन् वल्कस्य वेष्टो येषु ते । पत्राण्येव अङ्कूराः पत्राङ्कूरास्तैः प्रकृष्टं पुलकिताः पुलकिततमाः । सारः स्थिरो धर्मः स्वभावो यस्य तत् सारधर्म प्रकाण्डं येषां ते, योधपक्षे सारं धर्म-धनुः प्राति-पूरयतीति "आतो डोऽह्वावामः" (सि० ५-१-७६) इति डप्रत्यये सारधर्मप्राः, एवंविधाः

काण्डाः—शरा येषां ते । कीराणां—शुकानाम् आरावैः—शब्दैः 'किलिकिलिकृतः' किलिकिलि कुर्वन्तीति किलिकिलिकृतः । अतो वृक्षा एव कामस्य योधा इव भान्तीत्यर्थः । कङ्कट इवाचरतीति "कर्तुः क्विप्०" (सि० ३–४–२५) क्विप्, अप्रत्ययः, कङ्कटतीति वर्तमाने (शतृप्रत्ययः) । अत्र निदर्शनारूपकश्लेषाः ॥ १० ॥

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् पोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न ।
चित्रं त्वेतद्भजदमलतां मण्डलं शीतरश्मे-
र्यूनामन्तःकरणशरणं रागमापूपुषद्यत् ॥ ११ ॥

यद् 'विषमविशिखस्य' कामस्य प्रतापः 'तपनस्य' सूर्यस्य आतपे तपति सति मन्दं मन्दं पोषं प्रापत् इति न चित्रीयते—चित्रं न करोति, यद् रवेरपि आतपो मन्दं मन्दं तपन् पोषं प्राप, कामस्यापि प्रतापः पोषं प्राप । 'तु' पुनर् एतत् 'चित्रम्' आश्चर्यं यत् 'शीतरश्मेः' चन्द्रस्य मण्डलं 'अमलताम्' निर्मलतां भजत् सन् यूनां 'अन्तःकरणशरणम्' चित्तस्थानं रागं 'आपूपुषत्' वर्धयति स्म, चन्द्रमण्डलं स्वयं निर्मलत्वं भजति, यूनां चित्ते रागं वर्धयति तच्चित्रम् । आपूपुषत् "पुषण् धारणे" आङ्पूर्वः "चुरादिभ्यो णिच्" (सि० ३–४–१७) इति । अत्र समाधिः आक्षेपो विषमोऽनुप्रासश्च, तत्र "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥" (का० प्र० १०, १०६) इति । "गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥" (का० प्र० १०,१२७) इति चित्रीयते नेत्यादि आक्षेपः, चित्रं त्वेतदित्यादि विषमः ॥ ११ ॥

इत्थं तत्र प्रभवति मधौ बर्बराबद्धचेतः-
प्रीतिः सान्तःपुरपरिजनोऽन्येद्युरुद्यानदेशम् ।

सर्वात्मर्द्ध्याधिकरुचिरगात् सिन्धुरस्कन्धमध्या-
रूढेनामा भुवनपतिना नेमिना तार्क्ष्यलक्ष्मा ॥ १२ ॥

'अन्येद्युः' अन्यदिने 'सान्तःपुरपरिजनः' अन्तःपुरपरिवार-युक्तः 'तार्क्ष्यलक्ष्मा' कृष्णो नेमिना भुवनपतिना 'अमा' सह उद्यानदेशमगात् । क सति ? 'तत्र' उद्यानदेशे 'मधौ' वसन्ते, 'इत्थम्' अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण 'प्रभवति' फलपुष्पलतावृक्षादि-समृद्ध्या समर्थीभवति सति, किंभूतस्तार्क्ष्यलक्ष्मा ? बर्केरेण—क्रीडया आबद्धा चेतसः—चित्तस्य प्रीतिर्यस्य स बर्के० । पुनः किं-रूपः ? 'सर्वात्मर्द्ध्या' समस्तगजरथतुरङ्गच्छत्रचामरशृङ्गारादिस्वी-यसमृद्ध्याऽधिका रुचिर्दीप्तिर्यस्य । किंविशिष्टेन नेमिना ? सिन्धु-रस्य—गजस्य स्कन्धमध्यारूढेन, एतावता वसन्तेन पुष्पफलादिना सश्रीकं क्रीडावनं गजारूढेन श्रीनेमिना सह श्रीकृष्णः सपरिवारः क्रीडितुमगादित्यर्थः । अत्र परिकरानुप्रासस्वभावोक्तयः ॥ १२ ॥

तत्रापाचीपवनलहरीलोलमौलिप्रदेशान्
नानासालान् सरसविकसन्मञ्जरीपिञ्जराग्रान् ।
नेमेर्नव्ये वयसि वशितां वीक्ष्य चित्रस्मितास्यान्
संधुन्वानानिव परि शिरस्तौ क्षणं प्रैक्षिषाताम् ॥ १३ ॥

('तौ') श्रीनेमिकृष्णौ 'तत्र' उद्याने 'नानासालान्' विविध-वृक्षान् क्षणं 'प्रैक्षिषाताम्' अपश्यताम् । किंरूपान् ? 'अपाची०' अपाची दक्षिणा तस्याः पवनलहरीभिर्लोलाश्चञ्चला मौलिप्रदेशाः शिखरप्रदेशा येषां ते तान् । पुनः किंरूपान् ? 'सरस०' सरसा-भिर्विकसिताभिर्मञ्जरीभिः पिञ्जरमग्रं येषां तान् । अथ चञ्चल-त्वेऽपि विकसितत्वेऽपि (च) कारणान्तरं संभावयन्नाह—उत्प्रे-क्ष्यते—नेमेः 'नव्ये वयसि' यौवने 'वशितां' जितेन्द्रियतां वीक्ष्य 'परि' समन्तात् 'शिरः' शीर्षं संधुन्वानानिव । किंरूपान् ? चित्रेण आश्चर्येण स्मितं विकसितं आस्यं मुखं येषां तान् । अन्योऽपि किमप्य-

संभाव्यं दृष्ट्वा शिरो धुनाति विकसितस्मितमुखः (च) भवति, वृक्षा अपि नेमेः स्मरावेशकारणे यौवने जितेन्द्रियत्वं वीक्ष्य विस्मिता इव शिरो धुन्वानाः स्मितास्याश्च जाताः । अत्र वायुचञ्चलशिखरत्वं शिरोधुननत्वेन मञ्जरीपिञ्जरत्वं च स्मितास्यत्वेन संभावितम् । अत्रोत्प्रेक्षापरिकरकाव्यलिङ्गानुप्रासाः । नेमेर्नव्येत्यादिहेतोरुपन्यासात् काव्यलिङ्गम् ॥ १३ ॥

वाता वाद्यध्वनिमजनयन् वल्गु भृङ्गा अगायं-
स्तालान् दध्रे परभृतगणः कीचका वंशकृत्यम् ।
वल्ल्यो लोलैः किशलयकरैर्लास्यलीलां च तेनु-
स्तद्भक्त्येति व्यरचयदिव प्रेक्षणं वन्यलक्ष्मीः ॥ १४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'वन्यलक्ष्मीः' तयोः श्रीनेमिकृष्णयोः भक्त्या इति 'प्रेक्षणं' नाटकं व्यरचयदिव, वने भवा वन्या, वन्या चासौ लक्ष्मीश्च वन्यलक्ष्मीः । इतीति किम्? वाताः 'वाद्यध्वनिं' तूर्यारावं अजनयन्, भृङ्गाः 'वल्गु' मनोज्ञं यथा भवति अगायन्, 'परभृतगणः' कोकिलसमूहः तालान् दध्रे, 'कीचकाः' सच्छिद्रवंशा वंशकृत्यं तेनुः, 'च' अन्यत् 'वल्ल्यः' लताः 'लोलैः' चञ्चलैः किशलयकरैः 'लास्यलीलां' नृत्तलीलां तेनुः। अन्यदपि प्रेक्षणं मृदङ्गादिवादित्रगानतालवंशनर्तकीनां संयोगे भवति । वने भवा वन्या "दिगादिदेहांशाद्यः" (सि० ६-३-१२४) यप्रत्ययः । अत्र वाता इत्यादि निदर्शना, वल्लीनां नर्तकीत्वेनाध्यवसानादतिशयोक्तिः, किशलयकरैरिति रूपकम्, तेनुरिति क्रियाया द्वयोरुक्तयोरेकत्वाद्दीपकः, सकलेनार्थेनोत्प्रेक्षा, वन्यलक्ष्मीरिति समासोक्तिः । अन्यापि नायिका नायकभक्त्या नाटकं रचयतीत्यर्थः । अतो निदर्शनातिशयोक्तिरूपकदीपकोत्प्रेक्षासमासोक्त्यनुप्रासरूपः सङ्करः ॥ १४ ॥

ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवद्दीर्घिकास्या
किञ्चिद्धास्यायितसितसुमा शुङ्गिकाव्यक्तरागा ।

ताभ्यां तत्र प्रसवजरजःकुङ्कुमस्यन्दलिप्ती
नानावर्णच्छदनिवसना प्रैक्षि वानेयलक्ष्मीः ॥ १५ ॥

'तत्र' उद्याने 'ताभ्यां' श्रीनेमिकृष्णाभ्यां 'वानेयलक्ष्मीः प्रैक्षि' वने भवा वनस्येयं वा वानेयी, वानेयी चासौ लक्ष्मीश्च वानेयलक्ष्मीः, "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) पुंवद्भावः । किंरूपा वानेयलक्ष्मीः? 'ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवद्दीर्घिकास्या' तारावत् कनीनिकावत् चारिणः चरणशीला भ्रमरा येषु तानि, नयनानीवाचरन्ति नयनन्ति, ताराचारिभ्रमराणि तानि च नयनन्ति पद्मानि विद्यन्ते यस्यां सा ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवती, एवंविधा दीर्घिका एव आस्यं मुखं यस्याः सा, अत्रापि "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) इति पद्मवत्याः पद्मवदिति पुंवद्भावः । दीर्घिका मुखं, तस्यां कमलानि लोचनानि, तेषु भ्रमराः कनीनिका इत्यर्थः । किञ्चिद् ईषद् हास्यवदाचरितानि सितानि–श्वेतानि सुमानि –कुसुमानि यस्यां सा । शुङ्गिका एव व्यक्तः स्पष्टो रागो यस्याः सा । पुनः किंभूता? 'प्रसवजरजःकुङ्कुमस्यन्दलिप्ती' प्रसवेभ्यः –पुष्पेभ्यो जायते तत् प्रसवजम्, रजः–किञ्जल्कः तदेव कुङ्कुमस्य स्यन्दः–रसस्तेन लिप्ती–ईषल्लिप्ता । नानावर्णानि च्छदानि–दलान्येव वसनं वस्त्रं यस्याः सा । लिप्तीत्यत्र "क्तादल्पे" (सि० २–४–४५) इति ङी । अत्र रूपकोपमानपरिकरसमासोक्तयः । वानेयेति "नद्यादेरेयण्" (सि० ६–३–२) एयण् प्रत्ययः ॥ १५ ॥

रत्याक्षिप्तो मुररिपुरथान्दोलनादौ सदेशे
वीरे बन्धौ स्थितवति तथा काममुत्तिष्ठते स्म ।
वीरोत्तंसः स्मितमति यथा दब्धहल्लीसकस्थाः
श्रीसूनुस्ता निजभुजबलं गापयामास गोपीः ॥ १६ ॥

'अथ' अनन्तरं 'मुररिपुः' कृष्णः 'तथा' तेन प्रकारेण 'अन्दोलनादौ' क्रीडाविषये 'कामं' अत्यर्थम् 'उत्तिष्ठते स्म' उद्यतो बभू-

व । क सति? 'वीरे बन्धौ' श्रीनेमीशे 'सदेशे' समीपे स्थितवति सति । किंरूपो मुररिपुः? 'रत्या' रागेण आक्षिप्तः, पक्षे रतिः कन्दर्पभार्या तयाऽऽक्षिप्तो वशीकृतः । 'यथा' येन प्रकारेण 'वीरोत्तंसः' सुभटमुकुटः 'श्रीसूनुः' कामः ता गोपीः स्मितमति यथा भवति निजभुजबलं गापयामास । किंरूपा गोपीः? 'दृब्धहल्लीसकस्थाः' दृब्धं रचितं हल्लीसकं स्त्रीनाट्यं तत्र तिष्ठन्तीति । स्मिते हास्ये मतिर्यस्य तत् स्मितमति, अयमर्थः—यत् विश्वैकवीरे श्रीनेमीश्वरे समीपस्थेऽपि मद्भार्ययाऽबलयाऽपि श्रीकृष्ण आक्षिप्तस्तत् तत्क्रीडासु प्रागल्भत, अतः कामवीरो गर्वाद् हसन् हल्लीसकस्था गोपीः स्वदोर्बलं गापयामास । उत्तिष्ठते स्मेति "उदोऽनूर्ध्वेहे" (सि० ३–३–६२) इत्यात्मनेपदम् । अत्र रत्या इति, वीरे इति, वीरोत्तंस इति, अद्भुतरसव्यञ्जकानि । "मण्डलेन तु यन्नृत्यं स्त्रीणां हल्लीसकं हि तत्" (अ० चि० कां० २ श्लो० १९५) । अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तानुप्रासाः ॥ १६ ॥

प्रेमाधिक्यात्प्रतितरु हरिः पुष्पपूरप्रचायं
कृत्वा नेमिं स्वयमुपचरन् सत्यभामादिभार्याः ।
भ्रूविक्षेपं समदमनुदत्तत्र कृत्ये तदानीं
श्रेयोदृष्टिं हिमरुचिरिवानेहसं प्रेयसीः स्वाः ॥ १७ ॥

'हरिः' कृष्णः सत्यभामादिभार्याः तदानीं 'तत्र कृत्ये' उपचारकृत्ये भ्रूविक्षेपं समदं यथा भवति 'अनुदत्' प्रेरयामास, भ्रूसंज्ञयाऽन्तःपुर्यः प्रेरिता इत्यर्थः । किं कुर्वन्? 'प्रेमाधिक्यात्' स्नेहाधिक्यात् 'प्रतितरु' वृक्षं वृक्षं प्रति पुष्पपूरप्रचायं कृत्वा 'स्वयं' आत्मना 'नेमिम्-उपचरन्' प्रतिवृक्षं हस्तप्राप्याणि पुष्पाण्यवचित्य स्वयं शिरउरःकर्णादिषु निवेशनेन नेमिं सम्मानयन्नित्यर्थः । किंविशिष्टं नेमिम्? श्रेयसी—कल्याणी दृष्टिः—दृग् यस्य अथवा श्रेयसि पुण्ये शुभे वा दृष्टिर्ज्ञानं यस्य । क इव? 'हिमरुचिरिव' चन्द्र इव, यथा हिमरुचिश्चन्द्रः स्वयम् 'अनेहसं' कालं उपचरन् स्वाः

प्रेयसी रोहिण्याद्याः 'तत्र कृत्ये' कालोपचारलक्षणे प्रेरयति, चन्द्रस्य हि नक्षत्रराशिसंचारेण कालस्य शुभाशुभपरिणामः, तथाहि—चन्द्रस्य नानाकारोद्गमा राशिषु शुभाशुभसूचकाः, यथा—"अलि-सिंहे धनुर्वक्रः, शूलाभः कन्यकातुले । दक्षिणाभ्युन्नतो मीन-मेषे कुम्भवृषे समः ॥ १ ॥ मिथुने मकरे चोत्त-रोन्नतोऽथ हलो-पमः । धनुः कर्के रवौ श्लाघ्यो नवेन्दुरशुभोऽन्यथा ॥ २ ॥ विड्वरं स्यात्समे चन्द्रे, सुभिक्षं दक्षिणोन्नते । ईतिराजभयं शूले, दुर्भिक्षं दक्षिणोन्नते ॥ ३ ॥ कृष्णे चन्द्रे भवेन्मृत्युः, पीते व्याधिसमा-गमः । रक्ते रसाः क्षयं यान्ति, श्वेते वृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥" इत्यादि, नक्षत्रयोगा अपि धनिष्ठापञ्चकाद्याः तस्मिँस्तस्मिन्मासे दिने च शुभाशुभवृष्ट्यवृष्टिसूचकाः ख्याता वर्तन्ते । किंरूपमने-हसम्? श्रेयसो दृष्टिर्दर्शनं यस्मिन् तं श्रेयोदृष्टिं कल्याणसूचकम्, यथा चन्द्रो राशिसंचारेण शीतातपवृष्टिगर्भपरिणामात्कालमुपचरन् रोहिण्यादिनक्षत्राणि तथा प्रेरयति, कृष्णोऽपि स्वयं श्रीनेमिमुप-चरन् स्वप्रिया अपि तत्र कृत्ये प्रेरयामासेत्यर्थः । पुष्पपूरप्रचाय-मित्यत्र पुष्पाणां पूरः पुष्पपूरः, हस्तप्राप्यस्य पुष्पपूरस्य प्रचयनं पुष्पपूरप्रचायः, "हस्तप्राप्ये चेरस्तेये" (सि० ५-३-७८) अनेन घञ्प्रत्ययः, हस्तप्राप्यत्वाभावे तु प्रचय एव भवति । भ्रुवौ विक्षिप्य भ्रूविक्षेपम् "स्वाङ्गेनाध्रुवेण" (सि० ५-४-७९) इति णम् प्रत्ययः । अत्रोदात्तदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ १७ ॥

ताश्चानङ्गं पशुपतिदुतं गूढमार्गे शयानं
सख्यू राज्ये जहति पुरुहे चास्त्रजातेऽपि जाते ।
तत्राजय्ये त्रिभुवनपतावप्रभूष्णुं दृशैवो-
पाजेकृत्वा लघु ववलिरे जिष्णुपत्न्योऽभि नेमिम् ॥१८॥

'च' अन्यत् 'ताः' 'जिष्णुपत्न्यः' कृष्णान्तःपुर्यो नेमिमभि 'लघु' शीघ्रं ववलिरे । किं कृत्वा? 'अनङ्गं' कामं दृशैव 'उपाजेकृत्वा'

भग्नं संधाय । किंरूपमनङ्गम्? पशुपतिना—ईश्वरेण द्रुतं पीडितम्, पुनः किंरूपम्? 'गूढमार्गे' मनसि 'शयानं' मनसि कृतविश्रामं मनोयोनित्वात्संकल्पयोनित्वाच्च, अन्योऽपि यः पीडितः केनापि भवति स गूढे प्रच्छन्ने मार्गे शेते । पुनः किंरूपम्? तत्र 'अजय्ये' जेतुमशक्ये 'त्रिभुवनपतौ' श्रीनेमीशे 'अप्रभूष्णुं' असमर्थम्। क्व सति? 'सख्युः' वसन्तस्य राज्ये जयति सति। पुनः क्व सति? 'च' अन्यत् 'पुरुहे' प्रभूते 'अस्त्रजाते' शस्त्रसमूहे 'जातेऽपि' निष्पन्नेऽपि। कामस्यास्त्राणि कुसुमानि तेपु बहुष्वपि निष्पन्नेष्वित्यर्थः, तस्माद्भग्नं कामं दृशैव सज्जीकृत्य कृष्णान्तःपुर्यो नेमीशं प्रति वलिता इत्यर्थः। उपाजेकृत्वेति "उपाजेऽन्वाजे" (सि० ३–१–१२) इति सूत्रेण विकल्पेन गतिसंज्ञा। अत्र पर्यायोक्तविशेषोक्तिविशेषश्लेषानुप्रासाः। एतावताऽर्थेन स्वामिनो निर्विकारत्वं तासां च कामविवर्धकत्वं ज्ञापितमिति पर्यायोक्तम्। कामस्य जयहेतुवसन्तपुष्पायुधादिकारणयोगेऽपि स्वामिनं प्रति जयहेतुकार्यानुत्पत्तिरिति विशेषोक्तिः, स्वामिनं प्रति वलनक्रियां कुर्वतीभिस्ताभिः कामस्य भग्नसंधानमशक्यं कृतमिति विशेषः, "अन्यत्प्रकुर्वतः कार्य–मशक्यस्यान्यवस्तुनः । तथैव करणं चेति, विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥" (का० प्र० १०, १३६) अतिशयोक्तिश्च ॥ १८ ॥

अथ ताः श्रीनेमिनं नानाक्रीडाभिर्यथा क्रीडयन्तीति तदाह—

काचिच्चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां
मालां बालारुणकिशलयैः सर्वसूनैश्च क्लृप्ताम् ।
नेमेः कण्ठे न्यधित स तया चाद्रिभिच्चापयष्ट्या
रेजे स्निग्धच्छविशितितनुः प्रावृषेण्यो यथा त्वम् ॥१९॥

'काचित्' कृष्णपत्नी नेमेः कण्ठे मालां 'न्यधित' न्यस्तवती। किंरूपां मालाम्? चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां रोलम्बा भ्रमराः। पुनः किंरूपाम्? बालारुणकिशलयैः 'च' अन्यत् सर्वसूनैः क्लृप्तां

सूनानि—कुसुमानि । 'च' अन्यत् 'सः' भगवान् 'तया' मालया रेजे यथा 'प्रावृषेण्यः' वर्षाभवः त्वम् अद्रिभित्—इन्द्रः तस्य चापयष्टिः—धनुर्यष्टिः तया राजसे । किंरूपो भगवान् त्वं च ? 'स्निग्धच्छविशितितनुः' शितिः—श्यामा, शेषं स्पष्टम् । अत्र परिकरदृष्टान्तानुप्रासाः । चञ्चत्परिमलेत्यादिविशेषणानि मालाया इन्द्रधनुःसादृश्याय पञ्चवर्णत्वख्यापकानीति परिकरः ॥ १९ ॥

श्रीखण्डस्य द्रवनवलवैर्नर्मकर्माणि विन्दु-
 र्बिन्दून्न्यासं वपुषि विमले पत्रवल्लीर्लिलेख ।
पौष्पापीडं व्यधित च परा वासरे तारतारा-
 सारं गर्भस्थितशशधरं व्योम संदर्शयन्ती ॥ २० ॥

'परा' अन्या हरिवल्लभा, नेमेरिति पूर्वकाव्यस्थमधिकारादत्र लभ्यते, नेमेः विमले 'वपुषि' शरीरे पत्रवल्लीर्लिलेख । किं कृत्वा ? श्रीखण्डस्य 'द्रवनवलवैः' द्रवः—रसस्तस्य नवलवैः बिन्दून् न्यासं रचयित्वा । किंभूता सा ? नर्मकर्माणि 'विन्दुः' वेत्तीत्येवंशीला । 'च' अन्यत् 'पौष्पापीडं' पुष्पसंबन्धि मुकुटं व्यधित । किं कुर्वती ? 'वासरे' दिवसे 'तारतारासारं' ताराभिः—मनोज्ञाभिः ताराभिः—तारकाभिः सारं 'गर्भस्थितशशधरं' मध्यस्थितचन्द्रं 'व्योम' आकाशं संदर्शयन्ती, अहो जनाः ! दिवसे तारकचन्द्रसहितं नभः पश्यतेति । भगवद्वपुः श्यामवर्णं नभः, श्रीखण्डबिन्दवः ताराः, पुष्पमुकुटः चन्द्रः । वेत्तीति विन्दुः "विन्दिच्छू" (सि० ५-२-३४) उप्रत्ययः, विन्दुनिपातः । अत्र निदर्शनानुप्रासौ २०

अन्या लोकोत्तर! तनुमता रागपाशेन बद्धो
 मोक्षं गासे कथमिति? मितं सस्मितं भाषमाणा ।
व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कटीरे
 काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध ॥ २१ ॥

'अन्या' काचिद् हरिप्रिया 'व्यक्तं' प्रकटं रक्तोत्पलविरचिते-

नैव 'दाम्ना' मालया 'काञ्चीव्याजात्' मेखलामिषात् कटीरे 'तं' भगवन्तं बबन्ध रक्तोत्पलमयीं मेखलां तस्य कटीतटे बबन्धेत्यर्थः। किं कुर्वाणा? इति 'मितं' स्तोकं 'सस्मितं' सहास्यं भाषमाणा। इतीति किम्? हे लोकोत्तर! 'तनुमता' मूर्तिमता रागपाशेन बद्धः सन् मोक्षं 'कथं गासे?' कथं गच्छसि?, अन्योऽपि यः पाशेन बद्धः स्यात् स कथं याति? इति त्वमप्यनेन रागपाशेन बद्धो मोक्षं गन्तुं कथं शक्ष्यसि? इत्यन्योक्तिः। किंरूपं तम्? 'चेतनेशं चेतनाः—आत्मानस्तेषां ईशं चेतनेशम्, केव? 'प्रकृतिरिव' यथा प्रकृतिश्चेतनेशमात्मानं बध्नाति चेतना ज्ञानकला तस्या ईशमात्मानमिति। अत्र काव्यलिङ्गसमासोक्तिरूपकापह्नुत्युपमानानि ॥ २१ ॥

काचिद्वामा जलद! पिदधे चन्दनस्यन्दसिक्तैः
पङ्क्तिन्यस्तैः सरसकुसुमैर्दक्षमुख्यस्य वक्षः।
कामोन्मुक्तैरिव जगदुरो विध्यमानैरखण्डैः
काण्डैर्भेत्तुं तदलमनलंभूष्णुभावाद्बहिःस्थैः ॥ २२ ॥

हे जलद! काचित् 'वामा' स्त्री 'दक्षमुख्यस्य' श्रीनेमिनः 'वक्षः' हृदयं 'पङ्क्तिन्यस्तैः' श्रेणिरचितैः सरसकुसुमैः 'पिदधे' आच्छादितवती। किंरूपैः सरसकुसुमैः? चन्दनस्य स्यन्देन रसेन सिक्तैः। उत्प्रेक्ष्यते—कामोन्मुक्तैरखण्डैः 'काण्डैः' बाणैरिव। किंरूपैः काण्डैः? 'जगदुरः' विश्वहृदयं विध्यमानैः। पुनः किंरूपैः? 'तत्' श्रीनेमिहृदयं भेत्तुमलमत्यर्थम् 'अनलंभूष्णुभावात्' असमर्थत्वात् 'बहिःस्थैः' बहिःस्थितैः। एतानि कुसुमानि कामस्य बाणा जगतो हृदयं विध्यन्तोऽपि भगवतो हृदयं भेत्तुं न शक्नुवन्तीति बहिः स्थिताः। पिदधे इत्यत्र "वाऽवाप्योस्तनिक्रीधाग्नहोर्वपी" (सि० ३–२–१५६) अनेनापेरकारलोपः। विध्यमानैरित्यत्र 'व्यधंच्' ताडने विध्यन्तीत्येवंशक्तयो विध्यमानाः, "वयःशक्तिशीले" (सि० ५–२–२४) इति शानप्रत्ययः, आन, "दि-

वादेः श्यः" (सि० ३-४-७२) श्यप्रत्ययः, "ज्याव्यधः क्ङिति" (सि० ४-१-८१) य्वृत्, "अतो म आने" (सि० ४-४-११४) मोऽन्त इति । अत्रोत्प्रेक्षाऽनुप्रासौ ॥ २२ ॥

पौष्पापीडः शितिशतदलैः क्लृप्तकर्णावतंसः
कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी सलीलम् ।
तत्केयूरो बकुलवलयः पद्मिनीतन्तुवेदी
रेजे मूर्त्तात्प्रति मम पतिः पुष्पितात्पारिजातात् ॥२३॥

हे मेघ ! मम पतिर्मूर्त्तात् 'पुष्पितात् पारिजातात् प्रति रेजे' पुष्पितस्य पारिजातस्य कल्पवृक्षस्य सदृशो राजते स्मेत्यर्थः । किंरूपः पतिः ? 'पौष्पापीडः' पुष्पसंबन्धी आपीडो मुकुटो यस्य सः । (तथा) 'शितिशतदलैः' शितीनि श्यामानि शतदलानि कमलानि तैः क्लृप्तो रचितः कर्णावतंसः कर्णाभरणं यस्य, सलीलं यथा भवति 'कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी' कण्ठे न्यञ्चन्तीं नम्रीभवन्तीं विचकिलो मल्लिका तस्या (स्य) लुलन्तीं लुठन्तीं मालां बिभ्रती (भर्ती) त्येवंशीलः, "अजातेः शीले" (सि० ५-१-१५४) णिन्, "मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलिचिते" (सि० २-४-१०२) इति मालाया ह्रस्वः । पुनः किंरूपः ? 'तत्केयूरः' तस्य विचकिलस्य संबन्धिनी केयूरे यस्य, (तथा) बकुलः केसरः तत्संबन्धीनि वलयानि यस्य, (तथा) पद्मिनीतन्तुसत्का वेदीः मुद्रिका यस्य सः । एवं सर्वाङ्गेषु सर्वाभरणस्थानेषु पुष्पजातिविभूषितत्वान्मूर्त्तः पुष्पितः पारिजात इव भगवान् रराजेत्यर्थः । पारिजातादित्यत्र "यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना" (सि० २-२-७२) इत्यनेन प्रतिनिध्यर्थे प्रतिना योगे पञ्चमी, प्रतिनिधिर्मुख्यसदृशोऽर्थस्तदर्थे । अत्र निदर्शनापरिकरानुप्रासाः ॥ २३ ॥

धन्या मन्ये जलधर ! हरेरेव भार्याः स याभि-
र्दृष्टो दृग्भिः परिजनमनश्छन्दवृत्त्यापि खेलन् ।

कस्माज्जज्ञे पुनरियमहं मन्दभाग्या खिचेली
या तस्यैवं स्मरणमपि हा! मूर्छनाम्या लभे न ॥ २४ ॥

हे जलधर! अहं 'हरेरेव' कृष्णस्यैव भार्या धन्या मन्ये, याभिः 'सः' भगवान् 'परिजनमनश्छन्दवृत्त्याऽपि' परिवारमनोऽभिप्रायेणापि 'खेलन्' क्रीडन् 'दृग्भिः' लोचनैः दृष्टः । यतः स्वामी ज्ञानत्रयसमन्वितः परब्रह्मास्वादसादरो गार्हस्थोऽपि क्रीडायाम-(गृहस्थोऽपि क्रीडाम) निच्छुरेव, परं परिवारप्रीत्यैं क्रीडादिकं करोतीति । पुनरियमहं 'कस्माज्जज्ञे' कुतो हेतोर्जाता? इयमित्यनेन मानसप्रत्यक्षेणात्मानं पुरः पश्यन्तीव परेभ्यो हीनत्वेन पृथक् करोति । किंरूपाऽहम्? मन्दभाग्या । पुनः किंरूपा? 'खिचेली' निन्द्या स्त्री खिचेली । 'हा' इति खेदे । 'या' अहं 'एवं' अमुना प्रकारेण 'तस्य' भगवतः स्मरणमपि मूर्छनाम्या न लभे यावत्स्मरणं करोमि तावन्मूर्छा समायातीत्यर्थः । खिचेलीति निन्द्या स्त्री खिचेली निन्द्या(न्दा)वाची चेलद्—शब्दपुरः, टानुबन्धित्वात् "अणञेये०" (सि० २–४–२०) इति ङी, "नवैकस्वराणाम्" (सि० ३–२–६६) इति ह्रस्वः । अत्र निदर्शनाऽऽक्षेपभाविकानुप्रासपर्यायोक्ताद्याः, तत्र निदर्शनालक्षणे अत्र प्रस्तुतप्रशंसा, धन्या मन्ये इति कस्मादिति (आक्षेपः) "निषेधो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया । वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥" (का० प्र० १०–१०६) इति । तदाऽमूर्छिताऽपि यदहं स्मरणं कुर्वती मूर्छां प्राप्स्याम्येवेति भाविकम्, सर्वेणार्थेन विरहस्यैवाधिक्यज्ञापनात् पर्यायोक्तम् ॥ २४ ॥

जल्पन्त्येवं पुनरपि नवीभूतशोकाब्धिमग्ना
तूष्णींभावं स्वतनुमसृचत् साऽऽस्नन्दीमुखीव ।
तत्रं तावत् किमिति निगदच्चन्दनाम्भश्छटाभिः
सेचं सेचं खरुमिव गुरुर्वाग्भिराबूबुधत्ताम् ॥ २५ ॥

'सा' राजीमती एवं जल्पन्ती सती पुनरपि 'स्वतनुममुचत्' मूर्छया निजदेहं त्यक्तवती । किं कृत्वा ? 'तूष्णींभावं' मौनवती भूत्वा । किंभूता ? 'नवीभूतशोकाब्धिमग्ना' पूर्वं स्वामिनो वसन्तक्रीडादिवर्णनरसात् शोकाब्धिः शुष्कप्राय आसीत्, तदा भगवतः स्मरणबाहुल्यजागरितसंस्कारेण अनवो नवो भूतो नवीभूतः च्विप्रत्यय इत्यादि । उत्प्रेक्ष्यते—'आप्तनन्दीमुखीव' प्राप्तनिद्रेव । तावत् 'तन्त्रं' परिकरः ताम् 'आबूबुधत्' सचेतनामकरोत् । किं कुर्वत् ? 'किमिति' आकुलत्वेन किं जातं किं जातमिति वाच्ये किं किमिति निगदत् । किं कृत्वा ? 'चन्दनाम्भश्छटाभिः' चन्दनजलधाराभिः 'सेचं सेचं' सिक्त्वा सिक्त्वा । क इव ? 'गुरुरिव' यथा गुरुः 'खरुं' निषिद्धैकरुचिं वाग्भिः बोधयति सदाचारे प्रवर्तयति । एतेन राजीमती वृत्तान्तं कथयन्ती पुनरपि पूर्वदुःखजागरणेन शोकाक्रान्ता मूर्छिता पुनश्चन्दनच्छटासेकात् सखीभिः सचेतना कृता । तूष्णींभवनं पूर्वं "तूष्णीमा" (सि० ५-४-८७) इति णम् प्रत्ययः । सेचं सेचमिति सेचनं सेचनं पूर्वं "ख्णं चाऽऽभीक्ष्ण्ये" (सि० ५-४-४८) इति ख्णम् प्रत्ययः अम् इति । अत्र जात्युपमानुप्रासाः । मूर्छादिचेष्टावर्णनाज्जातिः ॥ २५ ॥

अर्धोक्तायाः स्वचरिततते: स्वप्नवत्साऽथ सद्यः
संजानत्यप्यनवहितधीर्व्युष्टसुप्तोत्थितेव ।
संपश्यन्ती विरहविवशा शून्यमाशाः कदाशा-
पाशामुक्ता मुदिरमुदितं पर्यभाषिष्ट भूयः ॥ २६ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सा' राजीमती 'भूयः' पुनरपि उदितं 'मुदिरं' मेघं परि अभाषिष्ट । किंरूपा ? 'स्वचरिततते:' स्वावदातपङ्क्तेः 'अर्धोक्तायाः' अर्धजल्पितायाः स्वप्नवत् 'संजानत्यपि' स्मरन्त्यपि, 'अनवहितधीः' अनवहिता—असावधाना धीर्यस्याः सा । उत्प्रेक्ष्यते—'व्युष्टसुप्तोत्थितेव' व्युष्टे प्रभाते सुप्ता चासौ उत्थिता च

सुप्तोत्थिता, यथा रात्रिजागरणात् प्रभाते सुप्तोत्थिताऽसावधाना स्यात् असंपूर्णनिद्रत्वात् । किं कुर्वती ? शून्यं यथा भवति 'आशाः' दिशः संपश्यन्ती । किंरूपा ? 'विरहविवशा' विरहविह्वला । पुनः किंरूपा ? कदाशा कुत्सिताऽऽशा वाञ्छा सैव पाशस्तेन आमुक्ता बद्धा । स्वचरिततते रित्यत्र "स्मृत्यर्थदयेशः" (सि० २–२–११) इति षष्ठी । कदाशेति कुत्सिता आशा कदाशा "कोः कत्तत्पुरुषे" (सि० ३–२–१३०) इति कदादेशः । मुदिरमित्यत्र 'भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः' (सि० २–२–३७) इति द्वितीया । अत्रोपमानुप्रासजातिसङ्करः ॥ २६ ॥

हंहो ! मोहस्खलितवचनां मेघ ! मा मामुपेक्षा-
पात्रं कार्षीर्न हि यदधरेवास्म्यनभ्याशमित्या ।
दुःस्थावस्थां विधिविलसितैः प्रापिता या विशेषात्
श्रोतव्याऽसौ तव मम कथा विश्वविश्वोपकर्तुः ॥ २७ ॥

हंहो मेघ ! त्वं मां उपेक्षापात्रं मा कार्षीः । किंरूपां माम् ? 'मोहस्खलितवचनां' मोहेन मूर्छया स्खलितं वचनं यस्याः सा ताम्, इयं जल्पन्ती स्खलिताऽतोऽस्या वचनं किं श्रूयते ? इत्यहं नोपेक्षणीया । यद् अहं 'अधरेव' हीनवादिनीव 'अनभ्याशमित्या नास्मि' अभ्याशं समीपम्, न अभ्याशं अनभ्याशम्, 'इणक् गतौ' ईयते गम्यते इति इत्यं, "दृवृग्स्तुजुषेतिशासः" (सि० ५–१–४०) क्यप्रत्ययः, "ह्रस्वस्य तः पित्कृति" (सि० ४–४–११३) तोऽन्तः, ततोऽनभ्याशं दूरं इत्यं गन्तव्यमस्याः साऽनभ्याशमित्या, "लोकम्पृणमध्यन्दिनानभ्याशमित्यम्" (सि० ३–२–११३) इति सूत्रेण मोऽन्तो निपातश्च, ततोऽयमर्थः— यस्माद्दूरे गम्यते यस्य समीपे न स्थीयते सोऽनभ्याशमित्यः, अहं त्वेवंविधा नास्मि, केव ? 'अधरेव' यथाऽधरा हीनवादिनी स्त्री एवंविधा स्यात्तथाऽहमेवंविधा नास्मि, मूर्च्छया स्खलिता,

परमप्रेतनं भूयो वक्ष्ये। असौ मम कथा तव विशेषतः श्रोतव्या। किंरूपाया मम? विधिविलसितैर्दुःस्थावस्थां प्रापितायाः। किंविशिष्टस्य तव? विश्वविश्वोपकर्तुः यः सकलजगत्परोपकारी स्यात्स दुःस्थवार्तां विशेषात् शृणोति। "कृत्यस्य वा" (सि० २-२-८८) अनेन सूत्रेण तवेति षष्ठी। अत्रोपमानुप्रासकाव्यलिङ्गाः॥ २७॥

वासन्तीं तां श्रियमुपवने साधु निर्विश्य कान्तां
लोकम्प्रीणानणुगुणभृदप्यर्दितस्तस्य सख्या।
क्लृप्ताकल्पस्तदिषुभिरुदाच्छिद्य रोषादिवात्तै-
र्विष्वक्सेनो न्यविशत पुरीं द्वारकां नेमिदृष्टिः॥ २८॥

'विष्वक्सेनः' कृष्णो द्वारकां पुरीं 'न्यविशत' प्रविवेश। किं कृत्वा? 'उपवने' क्रीडावने तां 'वासन्तीं' वसन्तसत्कां 'कान्तां' मनोज्ञां श्रियं साधु यथा भवति 'निर्विश्य' भुक्त्वा, 'श्रियं' लक्ष्मीं 'कान्तां' प्रियां 'निर्विश्य' भुक्त्वा इत्यर्थान्तरं वाच्यम्। किंविशिष्टः? 'तस्य' वसन्तस्य 'सख्या' कामेन अर्दितः। कदाचिन्निर्गुणो भविष्यतीत्याह—लोकम्प्रीणा लोकप्रीतिकारका अनणवो गुरवो ये गुणास्तान् बिभर्तीति। पुनः किंरूपः? 'तदिषुभिः' तस्य कामस्य इषुभिः वाणैः कुसुमैः 'क्लृप्ताकल्पः' क्लृप्तो रचित आकल्पः शृङ्गारो येन सः। किंरूपैस्तदिषुभिः? उत्प्रेक्ष्यते—रोषात् 'उदाच्छिद्य' उद्दाल्य 'आत्तैः' गृहीतैरिव। यत्कामेनाहं पीडितोऽतस्तेन कोपेन कुसुमरूपास्तद्बाणा उद्दाल्य गृहीताः। पुनः किंरूपो विष्वक्सेनः? 'नेमिदृष्टिः' नेमौ श्रीनेमिनाथे दृष्टिर्यस्य सः। पक्षे नेमिश्चक्रधारा, अन्यस्यापि यस्य वैरिणा सह वैरं स्यात् तस्य दृष्टिः शस्त्रे भवतीति व्यङ्ग्यम्। इषुशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु वर्तते **स्वतस्त्रिलिङ्गे** "षष्टिरेण्विषु" (हैमलिङ्गानुशासन ६ श्लो०) इति भणनात्। न्यविशतेति "निविशः" (सि० ३-३-२४) इत्यात्मनेपदमिति। श्लेषसमासोक्त्युत्प्रेक्षालङ्काराः॥ २८॥

सख्युर्दोषात्कुसुमधनुषः शान्तशत्रोरनिष्टे
तस्येशस्य स्वयमपसृते पुष्पकाले ह्रियेव ।
आगास्तेव स्वफलमुपदीकर्तुमात्मोपशाय-
स्थायी भृत्यः समयगतिवित् सप्रतापस्तपोऽपि ॥ २९ ॥

'तपोऽपि' उष्णकालोऽपि स्वफलं उपदीकर्तुम् 'आगास्त' आगच्छत् । स्वफलमिति जातावेकवचनम् । किंरूपस्तपः ? उत्प्रेक्ष्यते—'आत्मोपशायस्थायी भृत्य इव' आत्मन उपशाये वारके तिष्ठतीत्येवंशीलः । राज्ञो हि भृत्या निजनिजवारके सेवार्थमागच्छन्ति । क्व सति ? 'पुष्पकाले' वसन्त ऋतौ 'स्वयम्' आत्मना 'अपसृते' गते सति । कथं स्वयं वसन्तो गतः ? अत्राह, उत्प्रेक्ष्यते—'ह्रिया' लज्जया इव । का लज्जा ? इति विशेषणद्वारेण कारणमाह—किंविशिष्टे पुष्पकाले ? कुसुमधनुषः 'सख्युः' मित्रस्य दोषात् 'तस्येशस्य' श्रीनेमिनः 'अरिष्टे' अप्रिये, कामस्य को दोषः ? इत्याह—किंरूपस्य कामस्य ? 'शान्तशत्रोः' शान्तानां निर्विकाराणां शत्रुः वैरी, अथवा शान्ता निर्विकारा एव शत्रवो यस्येति दोषः । भगवान् शान्तः, कामस्तु शान्तशत्रुः, अतस्तेन कामेन मैत्र्याद्वसन्तोऽपि सापराधः, वैरिगृह्यत्वात् । भगवतो वा विशेषणम् । किंविशिष्टस्येशस्य? 'शान्तशत्रोः' शान्ताः शत्रवो यस्य । किंरूपस्तपः ? 'समयगतिवित्' समयः ऋतुरूपः कालस्तस्य गतिं गमनं विन्दति लभते वेत्ति वा समयगतिवित् । पक्षे समयो राजसेवाऽवसरः तस्मिन् गतिं गमनं वेत्तीति समयगतिवित् । पुनः किंरूपः ? 'सप्रतापः', प्रकृष्टः ताप औष्ण्यं तेन सह वर्तते, पक्षे प्रतापवान् । आगास्तेति 'गाङ् गतौ' इति धातो रूपम् । आत्मोपशायेति 'शीङ्क् स्वप्ने' शी उपपूर्वः, उपशयनमुपशायः "व्युपाच्छीङः" (सि० ५–३–७७) घञ् प्रत्यय इत्यादि । "विशाय उपशायश्च पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः" । (कां. ६–१३९) इति (हैम) **नाममालायाम्** । काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षाद्वयश्लेषजात्यलङ्काराः ॥ २९ ॥

तेजोवीर्यं पुरु रुचिपतेरुत्तरामेव काष्ठां
श्रेयःपुष्टां परि विचरतः प्राप्तमैधिष्ट शश्वत् ।
तापोत्तप्तानपि तनुमतः प्रीणयन्ती तुषारै-
र्वातैर्ज्यानिं प्रतिदिनमगाद्यामिनी तत्तु चित्रम् ॥ ३० ॥

'रुचिपतेः' सूर्यस्य 'पुरु' प्रभूतं 'शश्वत्' निरन्तरं 'तेजोवीर्यं' तेजोबलम् 'ऐधिष्ट' अवर्धिष्ट । किंकुर्वतः ? उत्तरामेव 'काष्ठां' दिशं 'परि विचरतः' उदीचीं दिशं प्रति चलतः । तत् 'प्राप्तं' युक्तम्, यत् अन्योऽपि उत्तरां उत्कृष्टां काष्ठां क्रियां परि विचरति तस्य तेजोवीर्यं वर्धते । किंरूपां काष्ठाम् ? 'श्रेयःपुष्टां' श्रेयसा कल्याणेन पुष्टाम्, उत्तरा हि श्रेयःकारिणी । पक्षे श्रेयसा पुण्येन पुष्टाम् । 'तु' पुनः तत् 'चित्रम्' आश्चर्यं यत् प्रतिदिनं 'यामिनी' रात्रिः 'ज्यानिं' हानिं अगात्, किं कुर्वती ? तापोत्तप्तान् 'तनुमतः' प्राणिनः 'तुषारैः' शीतलैः वातैः प्रीणयन्त्यपि । दिने हि ग्रीष्मे घर्मणा प्राणिनस्तप्ता भवन्ति, निशायां शीतलवातेन प्रीयन्ते, ततो रात्रि-स्तापतप्तप्राणिप्रीणनं पुण्यं कुर्वाणा यद् अहीयत तदाश्चर्यम्, पुण्य-कर्तुर्वृद्धिभावात् । अत्र समविषमसमासोक्तिश्लेषानुप्रासाः । "समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ।"(का०प्र०१०,१२५) पूर्वार्धे, उत्तरार्धे—"क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् । कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥ गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥" (का० प्र० १०, १२६–१२७) इति ॥ ३० ॥

वृद्धिं भेजे दिवसमनिशं स्वप्रतापेन सत्रा
शीतत्वेनापि च तलिनतां वासतेयी विवेश ।
नैतच्चोद्यं विमलरुचयः प्रायशो हि श्रयन्ति
क्षीयन्ते चाभ्यधिगततमःस्तोमभावाः स्वभावात् ॥ ३१ ॥

'अनिशं' निरन्तरं दिवसं स्वप्रतापेन 'सत्रा' साकं वृद्धिं भेजे ।

अपि च 'वासतेयी' रात्रिः शीतत्वेन सत्रा 'तलिनतां' तुच्छतां विवेश। दिवसस्तापश्च वृद्धौ, शीतत्वं रात्रिश्च तुच्छे जाते इत्यर्थः। एतत्सिद्ध्यै अर्थान्तरं न्यस्यति—एतत् 'न नोद्यं' नाश्चर्यम्, 'हि' यस्मात् 'प्रायशः' प्रायो विमलरुचयः 'श्रयन्ति' वर्धन्ते, विमला निर्मला परद्रोहादिवर्जिता रुचिः इच्छा येषां ते विमलरुचयः, दिवसमपि विमलरुचि विमलकान्ति, अतस्तस्य वृद्धिर्युक्ता। 'च' अन्यत् 'अभ्यधिगततमःस्तोमभावाः स्वभावात् क्षीयन्ते' अभ्यधिगतः प्राप्तः तमःस्तोमः पापसमूहो येन एवंविधो भावः चित्ताभिप्रायो येषां ते अभ्यधिगततमःस्तोमभावाः, रात्रिरपि अभ्यधिगतः तमःस्तोमस्य अन्धकारसमूहस्य भावः सत्ता यया सा अभ्यधिगततमःस्तोमभावा, अतस्तस्या हानिर्युक्ता। दिवसशब्दः पुंनपुंसकः। स्वप्रतापेनेति सहार्थे तृतीया। अत्र सहोक्त्यर्थान्तरन्यासजात्यलङ्काराः ॥ ३१ ॥

श्रोतस्विन्याः सिकतिलतटेनाग्निमिन्धेन भानो-
भासां स्पर्शादपि पथि चरद्देहिनो देहिरे धिक् ।
यद्वाऽऽसक्तः प्रकृतिकुटिलास्वाचरेन्निम्नगासु
प्रायोऽश्रेयो मृदुरपि न कः स्वल्पमप्यूष्मयोगे ॥ ३२ ॥

'श्रोतस्विन्याः' नद्याः 'सिकतिलतटेन' वालुकाकुलपुलिनेन 'पथि चरद्देहिनः' पथि मार्गे चरन्तो देहिनः प्राणिनो धिक् देहिरे दग्धाः। किंविशिष्टेन सिकतिलतटेन? 'भानोः' सूर्यस्य 'भासां' कान्तीनां स्पर्शादपि 'अग्निमिन्धेन' अग्निवत् ज्वलता सूर्यकरात्युष्णवालुकाभृततटे सञ्चरन्तः पान्थाद्या दग्धा इत्यर्थः। अत्रार्थान्तरन्यासमाह—'यद्वा' अथवा 'प्रकृतिकुटिलासु' प्रकृतिवक्रासु 'निम्नगासु' स्त्रीषु आसक्तः कः पुमान् 'मृदुरपि' सुकुमालोऽपि 'स्वल्पमपि' स्तोकमपि 'ऊष्मणः' प्रतापस्य योगे सति प्रायः 'अश्रेयः' अशुभं नाचरेत्? अपि तु सर्वोऽप्याचरेत्। ततो मृदु कोमलं तटमपि निम्नगासु

स्त्रीषु सक्तं ऊष्मयोगे तापयोगे सति यद्देहिद्दहनलक्षणमशुभमाचरति तत्किं चित्रम्? । सिकता विद्यन्ते यत्र तत् सिकतिलम्, प्रज्ञादेरिलः इलप्रत्ययः । अग्निवत् इन्द्धे-दीप्यते इत्यग्निमिन्धम्, पचाद्यच्, "भ्राष्ट्राग्नेरिन्द्धे" (सि० ३-२-११४) इति मोऽन्तः । अत्रोदात्तश्लेषार्थान्तरन्यासाः । ऊष्मण आधिक्यदर्शनादुदात्तम् ॥ ३२ ॥

लब्ध्वा तेजः खरतरकरैर्गोपतिः पीडयित्वा
तोयस्थानान्यतिघनरसानाददानः प्रतापी ।
निन्ये हानिं स्वजननलिनास्थानरूपाणि लोके
प्राप्तैश्वर्यं रमयति यतो गृद्धिबुद्धिर्विशेषात् ॥ ३३ ॥

'गोपतिः' सूर्यः तेजो लब्ध्वा 'स्वजननलिनास्थानरूपाणि तोयस्थानानि हानिं निन्ये' स्वजनानि स्वगोत्राणि, कमलबन्धुत्वात्सूर्यस्य यानि नलिनानि कमलानि तेषामास्थानरूपाणि निवासरूपाणि तोय स्थानानि जलस्थानानि हानिं निन्ये, शोषितानीत्यर्थः । किं कुर्वाणः' 'खरतरकरैः' कठोरतरकिरणैः अत्यर्थं 'घनरसान्' जलानि 'आददानः गृह्णानः । अन्योऽपि गोपती राजा तेजसा वर्धमानः कठोरदण्डै पूर्वमन्यान् पीडयित्वा 'अतिघनरसान्' अतिघनान् रसान् ध नानि गृह्णन् स्वजनगृहाण्यपि हानिं नयति । "रसः स्वादे जले वीर्ये रत्ने वृद्धयौषधे धने" इति रसशब्देन धनम् । 'यतः' यस्मात्कारणात् 'गृद्धिबुद्धिः' लोभबुद्धिः प्राप्तैश्वर्यं पुरुषं विशेषात् 'रमयति' स्वायत्तं करोति, ऐश्वर्ये हि विशेषाल्लोभो वर्धते । श्लेषसमासोक्ति काव्यलिङ्गार्थान्तरन्यासाः ॥ ३३ ॥

तापव्यापाकुलितजनतापश्चशाखे तुषारान्
संवर्षद्भिः पवनलुलितैस्तालवृन्तैर्विरेजे ।
धर्तुः शैत्योन्नततरुभिदे वर्ष्मलक्षाणि घर्म-
व्यालस्येव स्रुतमदकणैः कर्णतालैर्विलोलैः ॥ ३४ ॥

'तापव्यापाकुलितजनतापश्चशाखे' तापार्तलोकहस्ते 'तालवृन्तै

व्यजनैः 'विरेजे' शुशुभे। किंरूपैस्तालवृन्तैः? 'तुषारान्' जलकणान् संवर्षद्भिः 'पवनलुलितैः' वायुकम्पितैः । पुनः किंरूपैः? उत्प्रेक्ष्यते—'घर्मव्यालस्य' घर्मदुष्टगजस्य 'विलोलैः' चञ्चलैः 'कर्णतालैः' कर्णाञ्चलैरिव । किंरूपस्य घर्मव्यालस्य? शैत्योन्नततरुभिदे 'वर्ष्मलक्ष्माणि' शरीरलक्षाणि 'धर्तुः' दधतः, शैत्यमेव उन्नतस्तरुस्तस्य भिदे भिदायै । किंरूपैः कर्णतालैः? 'स्रुतमदकणैः' स्रुताः क्षरिता मदकणा यैस्ते तैः, अतो जलकणवर्षिणो वायुकम्पितास्तालवृन्ता एवोत्प्रेक्ष्यन्ते शैत्यतरुभिदे कृतबहुरूपस्य घर्मदुष्टगजस्य मदकणवर्षिणश्चञ्चलाः कर्णताला इव । अत्र परिकररूपकोत्प्रेक्षानुप्रासाः ॥३४॥

संतापाढ्यः प्रखरकरभीर्जातदोषोदयेच्छ-
स्तृष्णापात्रं जडकृतरतिर्दीर्घनिद्राभिलाषी ।
राजन्वत्यप्यवनिवलयेऽदभ्रदाहे निदाघे-
ऽबोभूयिष्टानलसविलसद्धर्मशर्माऽपि लोकः ॥ ३५ ॥

'अदभ्रदाहे' महादाहे 'निदाघे' ग्रीष्मे लोक एवंविधोऽबोभूयिष्ट ईदृशोऽत्यन्तमभूत् । किंरूपो लोकः? 'अनलसविलसद्धर्मशर्मा' अनलसं सोद्यमं विलसन धर्मः पुण्यं शर्म सुखं च यस्य सः धर्मशर्मसहितोऽपि (इति यावत्) । क सति? 'अवनिवलये' पृथ्वीवलये 'राजन्वत्यपि' शोभनो राजा यस्मिन्नसौ राजन्वान् तस्मिन् । किंरूपो लोकः? सन्तापेन उद्वेगेन आढ्यः । यो लोकोऽनलसविलसद्धर्मशर्मा भवति स सन्तापाढ्यः कथम्? इति विरोधः, अथ विरोधपरिहारमाह—सं सामस्त्येन तापेन आढ्यः । 'प्रखरकरभीः' प्रखरान् अतिकठोरान् करात् दण्डात् बिभेतीति प्रखरकरभीः, पक्षेऽतिकठोरेभ्यः करेभ्यो रविकिरणेभ्यो बिभेतीति । जाता दोषाणां द्रोहमदमात्सर्याणां उदये इच्छा यस्य सः, पक्षे जाता दोषोदये रात्र्युदये इच्छा यस्य सः । तृष्णायाः लोभस्य पात्रम्, पक्षे तृष्णायाः पिपासायाः पात्रम् । तथा जडेषु मूर्खेषु

कृता रतिर्येन सः, पक्षे जले कृता रतिर्येन सः । दीर्घनिद्रां म अभिलषतीति, पक्षे दीर्घां बह्वीं निद्रामभिलषतीति, ग्रीष्मे निद्राप्राचुर्यं स्यात् । शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् "रा न्वान् सुराज्ञि" (सि० २–१–९८) इति निपातः । अबोभूरि ष्टेति चेक्रीयतान्तस्य भूधातोरद्यतनीतप्रत्यये रूपम् । अत्र परिक विरोधश्लेषाः ॥ ३५ ॥

ऊष्मोत्कर्षान्न सुखमपुषत् सौधमाध्यन्दिनोर्वी
लूकास्तोकोदयदरतितः सौधमूर्धाधिवासः ।
दूरीकृत्य द्वयमिति जले केलिकामः सनेमिः
शौरिर्लीलोपवनमसरत्तूरसंहूतपौरः ॥ ३६ ॥

'शौरिः' विष्णुः 'लीलोपवनं' क्रीडावनं असरत् । किंरूप शौरिः ? 'सनेमिः' नेमिसहितः । पुनः किंरूपः ? 'तूरसंहूतपौर तूरैः वाद्यैः संहूताः पौराः नागरा येन सः । अतो वाद्यरवं श्रुत्व लोका अपि तत्र गताः । पुनः किंविशिष्टः शौरिः ? इति द्वयं सौधमध्य गृहोर्ध्ववासलक्षणं 'दूरीकृत्य' परिहृत्य जले 'केलिकामः' केलं कामोऽभिलाषो यस्य सः । इतीति किम् ? 'सौधमध्यन्दिनोर्व आवासमध्यभूमिः 'ऊष्मोत्कर्षात्' घर्मप्राचुर्यात् सुखं न अपुषत् 'सौधमूर्धाधिवासः' सौधोपरितनभूमिः 'लूकास्तोकोदयदरतितः सु नापुषत्' लूकातोऽस्तोका बह्वी उदयन्ती उत्पद्यमाना अरति तस्याः सकाशात् । सौधमध्ये तापव्यापः, सौधोपरि लूकाक्लेश इति द्वयं परिहृत्य जले क्रीडितुं श्रीकृष्णः श्रीनेमिना सह सपौ लोकः क्रीडावनमगादित्यर्थः । अपुषदित्यत्र "लृदिद्द्युतादि पुष्यादेः (सि० ३–४–६४) इति अङ् । सौधमाध्यन्दिनोर्वी मध्ये भ माध्यन्दिनी "मध्यादिनण्णेया मोऽन्तश्च" (सि० ६–३–१२६ दिनण्प्रत्ययः, वृद्धिः, ङी, माध्यन्दिनी चासौ उर्वी च माध्य न्दिनोर्वी, "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) पुंवद्भावः अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तसहोक्त्यलङ्काराः ॥ ३६ ॥

ज्येष्ठं कृत्वा पुर इव भुजन्नम्रसालै रसालैः
सालैर्ग्रीष्मः प्रमदवनभूमध्यदेशप्रवेशे ।
पुञ्जीभूता भुवि विगलनाद्भारतार्धत्रिलोकी-
लीलापत्योः स्वफलपटलीः प्राभृतेऽचीकरच्च ॥ ३७ ॥

'ग्रीष्मः' उष्णर्तुः भारतार्धत्रिलोकीलीलापत्योः प्रमदवनभूमध्यदेशप्रवेशे रसालैः 'सालैः' सहकारवृक्षैः स्वफलपटलीः 'प्राभृते' उपदायां अचीकरत्, 'चः' अवधारणे, रसालसालाः स्वफलपटलीः प्राभृते कुर्वन्ति तान् कुर्वतो ग्रीष्मः प्रायुङ्क्त । भारतार्धलीलापतिः श्रीकृष्णः, त्रिलोकीलीलापतिः श्रीनेमिः तयोः । यत्र राज्ञोऽन्तःपुर्यः क्रीडन्ति तत् प्रमदवनं तस्य भुवो मध्यप्रदेशस्तत्र प्रवेशे । किंविशिष्टै रसालैः ? भुजा इवाचरन्त्यो नम्राः सालाः शाखा येषां ते तैः । किं कृत्वा ? 'ज्येष्ठं' ज्येष्ठमासं 'पुर इव' अग्रे इव कृत्वा, ज्येष्ठाषाढमासौ हि ग्रीष्मः । किंभूताः स्वफलपटलीः ? 'भुवि' पृथिव्यां विगलनात् 'पुञ्जीभूताः' राशीभूताः । अन्यस्यापि राज्ञः प्रवेशे ज्येष्ठं वृद्धं पुरस्कृत्य फलादीन्युपदीक्रियन्ते । भुजा इवाचरन्तीति "कर्तुः क्विप्" (सि० ३-४-२५) क्विप्प्रत्ययः, "अप्रयोगीत्" (सि० १-१-३७) भुजन्तीति वर्तमाने "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ" (सि० ५-२-२०) शतृप्रत्ययः । अत्रोपमाश्लेषसमासोक्तिपर्यायोक्तानि । अखण्डकाव्यवाक्येनाम्राणां परिपक्वफलत्वं दर्शितमिति पर्यायोक्तम् ॥ ३७ ॥

दर्शं दर्शं फलितफलदान् पाकिमं पीतलत्वं
बिभ्रद्बभ्रुः सरसमकृशं वानशालाटवान्यत् ।
गर्जद्गर्जः फलमथ ललौ लीलयाऽनाश्रवार्थं
सारग्रन्थान् कविरिव सुधीः सद्गुणं सूक्तजातम् ॥ ३८ ॥

'अथ' अनन्तरं 'बभ्रुः' कृष्णः 'फलितफलदान्' फलितवृक्षान् 'दर्शं दर्शम्' आभीक्ष्ण्येन दृष्ट्वा लीलया फलं ललौ । किंरूपम् ?

'पाकिमं' पाकेन निर्वृत्तं पाकिम् । किं कुर्वन् ? पीतलत्वं वि सरसं अक्तुशं अत एव 'वानशालाटवान्यत्' वानं शुष्कं श अपकं तेषां समूहादन्यत् । पुनः किंरूपः ? गर्जन् गर्जो ग यस्य । एतेन वृक्षाणां सरलत्वसफलत्वादिगुणा दर्शिताः, येन ग रूढेनापि लीलया फलानि लायन्ते । क इव ? 'सुधीरिव' र सुधीः सारग्रन्थान् दर्शं दर्शं सूक्तजातं सुभाषितसमूहं ला किंविशिष्टं सूक्तजातम् ? अनाश्रवो निर्दोषोऽर्थो यस्य स त 'सद्गुणं' सन्तः प्रशस्या गुणा माधुर्याद्या यस्मिन् तम् । दर्शनं "ण्णं चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) ण्णम् । पाकेन नि पाकिमम्, पाकादिमः इमप्रत्ययः । वानानां शलाटूनां स "षष्ठ्याः समूहे" (सि० ६–२–९) अण्प्रत्ययः । अत्र परि जात्युपमाऽनुप्रासाः ॥ ३८ ॥

त्यक्त्वा नागं दृढितपरमप्रेम हस्तेन हस्तं
बद्ध्वा बन्धोर्गज इव गजस्यैष बम्भ्रम्यमाणः ।
वीक्षाञ्चक्रे सरससरसीः सस्मितं पाणिपद्मै-
राम्भीनर्भानिव कलरुतान् पत्रिणः खेलयन्तीः ॥ ३९

'एषः' कृष्णः सस्मितं यथा भवति सरससरसीः वीक्षाञ्चक्रे किं कुर्वाणः ? 'नागं' गजं त्यक्त्वा दृढितं दृढीकृतं परमं प्र प्रेम स्नेहो यथा भवति 'बन्धोः' श्रीनेमिनो हस्तेन हस्तं बद्ध्वा 'बम् म्यमाणः' अत्यर्थं भ्रमन्, 'क इव' ? 'गज इव' यथा गजो गज 'हस्तेन हस्तं' शुण्डया शुण्डां बद्ध्वा प्रेम्णाऽत्यर्थं भ्रमति । किंरूप सरससरसीः ? 'पाणिपद्मैः' पाणिरूपपद्मैः 'पत्रिणः' पक्षिणः 'खे यन्तीः' क्रीडयन्तीः, पद्मान्येव पाणिनस्तैः । किंरूपान् पत्रिणः उत्प्रेक्ष्यते—'आम्भीन् अर्भानिव' अम्भसोऽपत्यानि अर्भान् बालानिव अन्या अपि योषाः 'पाणिपद्मैः' करकमलैर्बालान् खेलयन्ति । र रसीः (स्यः) योषाः, पद्मानि पाणयः, पत्रिणो बाला इत्यर्थः

पुनः किंरूपान्? 'कलरुतान्' मधुरशब्दान्। पाणिपद्मैरिति तुल्यार्थवाचकधर्मलोपे लुप्तोपमा मृगलोचनावत्। अम्भसोऽपत्यानि आम्भयः "भूयःसंभूयोऽम्भोऽमितौजसः स्लुक् च" (सि० ६–१–३६) इञ्प्रत्ययः सलोपः, "वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते" (सि० ७–४–१) वृद्धिः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) अलोपः, आम्भिरिति निष्पन्नं, ततः पुँल्लिङ्गे शसि आम्भीनिति। अत्रोपमाजात्युत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ३९ ॥

तत्रान्यत्रोत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु चैष
क्रीडां कर्तुं रतिवशवशावृन्दवर्ती सुगात्रः ।
मृद्नन् पद्भ्यां नलिननिकरं नीरपूरं करेणो-
दस्यन् पश्यन्नधिमदमुपाक्रंस्त हस्तीव शस्तः ॥ ४० ॥

'एषः' कृष्णः 'तत्र' तासु सरसीषु 'च' अन्यत् अन्यत्र, उत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु क्रीडां कर्तुमुपाक्रंस्त, उत्तराणि प्रधानानि सरिः निर्झरः सरित् नदी वापी (च) तेषां तोयेषु । क इव? हस्तीव यथा हस्ती सरोनिर्झरादिजलेषु क्रीडां कर्तुमुपक्रमते । किंरूप एषः? 'रतिवशवशावृन्दवर्ती' रतिवशा रागवशा या वशाः स्त्रियः तासां वृन्दे वर्तेत इत्येवंशीलः, पक्षे रतिवशा वशा हस्तिन्यः तासाम्। पुनः किंविशिष्टः? 'सुगात्रः' सुन्दरशरीरः, हस्तिपक्षे गात्रं पश्चिमभागः। पुनः कथंभूतः? 'पद्भ्यां' पादाभ्यां नलिननिकरं मृद्नन्, समम् । नीरपूरं 'करेण' (हस्तेन पक्षे) शुण्डया 'उदस्यन्' उल्लालयन् । अधिमदं यथाभवति पश्यन्, समानम्। (पुनः कथम्भूतः? शस्तः, समम्।) वापितोयेष्विति "वेदूतोऽनव्ययय्वृदीच्ङीयुवः पदे" (सि० २–४–९८) ह्रस्वः, उपाक्रंस्तेति "प्रोपादारम्भे" (सि० ३–३–५१) आत्मनेपदम्। अत्र परिकरोपमाश्लेषाः ॥ ४० ॥

नाडीं क्वापि क्वचन घटिका याममेकं क्वचिच्च
द्वित्रान् क्वापि क्वचिदपि दिनं पक्षिणं गर्भकं च ।
स्थायं स्थायं सलिलनिलये तीव्रतापोपशान्त्यै
शौरिर्मग्नोऽपि हि रतिरसे दीर्घिकायां ममज्ज ॥ ४१

'हि' निश्चितं 'शौरिः' कृष्णो 'रतिरसे' रागरसे मग्नोऽपि
र्घिकायां ममज्ज । किं कृत्वा ? 'सलिलनिलये' जलस्थाने ब
'नाडीं' घटिकाम्, क्वचन घटिकाः बहुवचनाद्बह्वीः, 'च' अ
क्वचित् 'एकं यामं' प्रहरम्, क्वापि द्वित्रान् प्रहरान्, क्वचिदपि '
पक्षिणं' द्वाभ्यां रजनीभ्यां वेष्टितमहः पक्षी तं पक्षिणम्, पार्श्वे
रात्रिरन्तराले दिनम्, क्वापि 'गर्भकं' रजनीयुगम्, अर्वाचीना प
चीना च रात्रिरेकत्र मध्ये दिनमन्यत्र, 'स्थायं स्थायं' आ
क्ष्ण्येन स्थित्वा स्थित्वा । किमर्थम् ? 'तीव्रतापोपशान्त्यै' तीव्रता
पशमनार्थम् । स्थायं स्थायमिति स्थानं पूर्वं "ख्णं चाभीक्ष्
(सि० ५-४-४८) ख्णम् । अत्र रतिरसे मग्नोऽपि दीर्घिका
ममज्जेति विरोधः, योऽन्यत्र मग्नो भवति सोऽन्यत्र कथं मज्जति
तापाधिक्यप्रतिपादनं वाच्यम् । अत्रोदात्तविरोधानुप्रासाः ॥ ४१

तस्यां श्रोणिद्वयसपयसि स्मेरपङ्केरुहायां
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णसोपानकायाम् ।
हर्षात् खेलन् सह सहचरीरत्नवारेण तारा-
चक्रेणेवाभ्रमदुडुपतिर्मेरुमन्वेष नेमिम् ॥ ४२ ॥

'एषः' कृष्णो नेमिं अनु अभ्रमत् । किं कुर्वन् ? 'तस्यां' दीर्
कायां 'सहचरीरत्नवारेण' अन्तःपुररत्नसमूहेन सह हर्षात् 'खेल
क्रीडन् । किंविशिष्टायां तस्याम् ? 'श्रोणिद्वयसपयसि' श्रोणेः कट
तटस्योर्ध्वं पयो यत्र सा तस्याम् । (पुनः कथंभूतायाम् ?) रत्न
णीभिः खचितानि बद्धानि निचितानि दृढानि स्वर्णसोपानका
यस्यां सा तस्याम् । क इव ? 'उडुपतिरिव' चन्द्र इव, यथोडु

तिस्ताराचक्रेण सह मेरुमनु भ्रमति । श्रोणेरूर्ध्वं श्रोणिद्वयसं "वोर्ध्वं दघ्नट्द्वयसट्" (सि० ७-१-१४२) द्वयसट्प्रत्ययः, अभ्रमदित्यत्र अद्यतनी ह्यस्तनी वा, ह्यस्तन्यां "भ्रासभ्लास"-(सि० ३-४-७३) इति विकल्पेन शव्, अद्यतन्यां लृदित्वाद् अङ् । अत्रोदात्तोपमानुप्रासाः ॥ ४२ ॥

पत्याकूतं यदुपतिगृहाः संविदाना मदाना-
माद्यं बीजं निवसितसितश्लक्ष्णपत्तोर्णवर्ण्याः ।
दृक्कोणेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः परीयुः
कर्मापेक्षाः परमपुरुषं मोहसेनाः प्रभुं तम् ॥ ४३ ॥

'यदुपतिगृहाः' कृष्णान्तःपुर्यः तं प्रभुं 'परीयुः' परिवृतवत्यः । किंरूपा यदुपतिगृहाः? 'पत्याकूतं' पत्यभिप्रायं 'संविदानाः' जानन्त्यः, पुनः किंरूपाः ? मदानामाद्यं 'बीजं' कारणम्, पुनः कथंभूताः ? 'निवसितसितश्लक्ष्णपत्तोर्णवर्ण्याः' निवसितानि परिहितानि सितानि श्वेतानि श्लक्ष्णानि मृदूनि पत्तोर्णानि धौतवस्त्राणि तैर्वर्ण्याः, (पुनः किंभूताः?) 'दृक्कोणेन' नयनप्रान्तभागेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः, कर्म विलासकर्म अपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः, पुनः किंभूताः ? मोहस्य सेना इव मोहसेनाः । किंरूपं तम्? परमपुरुषम्, पक्षे यथा मोहसेनाः परमपुरुषं आत्मानं परियन्ति, किंरूपा मोहसेनाः ? कर्म ज्ञानावरणादि तदपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः । संविदाना इति 'विदक् ज्ञाने" संपूर्वः संवदन्तीत्येवंशीलाः "वयःशक्तिशीले" (सि०५-२-२४) इति शानप्रत्ययः । अत्रानुप्रासरूपकश्लेषातिशयोक्तयः ॥ ४३ ॥

तासां लीलोल्लनजनिता गुन्दलन्ति स्म तोय-
ध्वाना वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः साध्वनृत्यन् ।
श्रोत्रापेयं मधुकरकुलैर्गीयते स्मातिरक्तं,
तस्येत्यासीदिव नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः ॥ ४४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'तस्य' भगवतः 'इति नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः

आसीदिव' नवो रसो अद्भुतादिर्यस्याः शुद्धा निर्दोषा सङ्गीत नाट्यस्य रीतिः। इतीति किम्? 'तासां' अन्तःपुरीणां 'लीलोल्लन नितः' लीलाखेलननिष्पादिताः 'तोयध्वानाः' तोयशब्दाः 'गु लन्ति स्म' मर्दलस्य ध्वनिर्गुन्दलः कथ्यते ततो मर्दलधोङ्कारा स्म, 'वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः' वीचिभिः कल्लोलैः प्रच चपला नलिन्यः कमलिन्य एव नायिका नर्तक्यः साधु य भवति अनृत्यन्, 'मधुकरकुलैः' भृङ्गपटलैः श्रोत्रापेयं 'अतिर अतिमधुरं गीयते स्म श्रोत्रैः श्रवणैः आपीयत इति लक्षणयाऽत श्रूयत इति। अन्यत्रापि नाट्ये मर्दलधोङ्कारा भवन्ति, नर्तक्यो त्यन्ति, गायना गायन्ति। अत्र रूपकोत्प्रेक्षोदात्तातिशयोक्तयः॥४

पूरं पूरं सुरभिसलिलैः स्वर्णशृङ्गाणि रङ्गात्
सारङ्गाक्ष्यः स्मितकृतममुं सर्वतोऽप्यभ्यषिञ्चन् ।
धारा धाराधर! सरलगास्ताश्च वारामपाराः
सारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसारा विरेजुः ॥ ४५ ॥

'सारङ्गाक्ष्यः' स्त्रियः रङ्गात् 'अमुं' भगवन्तं सर्वतोऽपि 'अ षिञ्चन्' अभिषिषिचुः। किं कृत्वा? स्वर्णशृङ्गाणि सुरभिसलिलैः ' पूरं' (आभीक्ष्ण्येन) पूरयित्वा, किंरूपं अमुम्? स्मितं हास्यं करोती स्मितकृत् तं स्मितकृतम्। 'हे धाराधर!' हे मेघ! 'च' अन्यत् र 'वारां' जलानां अपारा धाराः 'स्मारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसार स्मरसंबन्धिनः अमुष्य अङ्गं प्रति प्रसृमराः प्रसरणशीलाः श बाणास्तेषां आसारो वेगवद्वृष्टिस्तद्वत् साराः शोभनाः 'विरेजु शुशुभुः, वारिधारा एव भगवदङ्गे प्रसृमराः स्मरबाणधोर (ण्यः)। किंरूपा धाराः? सरलं गच्छन्तीति सरलगाः " चित्" (सि० ५–१–१७१) डप्रत्ययः, स्वामिनोऽङ्गे सरलत पतन्त्यः सन्तीत्यर्थः। अत्र जात्युदात्तनिदर्शनानुप्रासाः॥ ४५ ।

नित्योन्निद्रं पुरुपरिमलं राजतेजोविराजि
स्पष्टश्रीकं वदनकमलं देव! ते सेवतेऽदः।
स्थानभ्रष्टं जितमिति वदन्त्येव कर्णावतंसी-
चक्रे काचिद्दशशतदलं लीलयोल्लूय तस्य ॥ ४६ ॥

काचित् 'दशशतदलं' सहस्रदलं लीलया 'उल्लूय' उच्चित्य तस्य 'कर्णावतंसीचक्रे' कर्णाभरणं विदधे। किं कुर्वती? इति वदन्त्येव, इतीति किम्? हे देव! 'अदः' कमलं 'ते' तव वदनकमलं सेवते। कुतः सेवते? विशेषणद्वारेण हेतुमाह—जितम्। तज्जये हेतूनाह—किंरूपं वदनकमलम्? 'नित्योन्निद्रं' नित्यविकस्वरं, कमलं तु दिवा विकस्वरं रात्रौ संकुचति, पुनः किंरूपम्? पुरुः प्रभूतः परिमलो यस्य तत्, कमलस्य तु परिमलः परिमित एव, पुनः किंरूपम्? 'राजतेजोविराजि' राज्ञस्तेजो राजतेजस्तेन विराजते इत्येवंशीलम्, कमलं तु राजतेजोविराजि न स्यात्, राजा चन्द्रस्तस्य तेजसा न विराजते, पुनः किंरूपम्? स्पष्टा प्रकटा श्रीर्यस्य तत्, कमले हि श्री रूढ्यैव, किंविशिष्टं कमलम्? स्थानाद्भ्रष्टम्, यतः स्थानभ्रष्टं येन जितं स्यात्तत्तस्य सेवां कुरुते, स्वामिनो वदनशोभाधिक्यं प्रतिपादितम्। अत्र परिकरहेतुव्यतिरेकाः ॥ ४६ ॥

स्पर्धध्वे रे! नयननलिने निर्मले देवरस्य
स्मित्वेत्येवं शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती।
कन्दोत्खातान् धवलकमलान् कामपाशप्रकाशान्
नाशाशास्यानुरसि सरसाऽहारयत् स्वामिनोऽन्या ॥४७॥

अन्या सरसा धवलकमलान् स्वामिनः 'उरसि' हृदये 'अहारयत्' हारमकरोत्। किं कृत्वा? इत्येवं स्मित्वा। एवमिति किम्? रे कमलाः! यूयं देवरस्य निर्मले 'नयननलिने स्पर्धध्वे' नयनकमलाभ्यां सह स्पर्धां कुरुथ। किं कुर्वती? 'शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती' तीक्ष्णतरतिर्यक्कटाक्षबाणान् विक्षिपन्ती। किंरूपान् धवलकमलान्? कन्दात् उत्खातान् उत्पाटितान् कन्दोत्खा-

तान्, पुनः किंरूपान्? 'कामपाशप्रकाशान्' कामपाशवत्
शान् प्रकटान्, प्रकटः कामपाशो यादृशः स्यात्तादृशान्,
किंरूपान्? 'नाशाशास्यान्' नाशया नासिकया आशास्यान् उ
लप्यान्। अत्र कमलानि हारीकृतानि तेषामपि कामपाशारो
कमलशब्दः पुंनपुंसकलिङ्गे। हारमकरोत् "णिज्बहुलं०" (सि० ३-
४२) णिच्प्रत्ययः। अत्र प्रत्यनीकजातिरूपकानुप्रासाः॥ ४७

क्रीडां हेमद्युतिहरिवधूबन्दितो बान्धवस्य
प्रीत्यै तन्वन् प्रतिकृतशतैरप्सु हर्षैकहेतुः।
श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधारश्चकाशे
विद्युन्मालापरिगतवपुर्वल्गु वर्षन्निव त्वम्॥ ४८॥

श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधारः सन् चकाशे, चिकुरे
केशेभ्यो विगलन्ती वारिधारा यस्यासौ। किं कुर्वन्? 'उ
जलेषु 'बान्धवस्य' श्रीकृष्णस्य प्रीत्यै प्रतिकृतशतैः क्रीडां तन्
कृतात् प्रति यत् क्रियते तत् प्रतिकृतमुच्यते, अन्तःपुर्यो जल
टाभिः स्वामिनं सिञ्चन्ति, स्वाम्यपि श्रीकृष्णस्य प्रमोदाय वारिभ
भिस्ताः सिञ्चति। किंरूपो भगवान्? ('हर्षैकहेतुः' प्रमोदस्य
अद्वितीयो हेतुः, पुनः किंभूतः) 'हेमद्युतिहरिवधूबन्दितः' हेम
द्युतिर्यासां ता हेमद्युतयः, हेमद्युतयश्च ता हरिवध्वश्च हेमद्युतिहरिव
ताभिर्बन्दितः बन्दीकृतः, यथा कोऽपि बन्दीकृतो न मुच्यते
ता अपि वेष्टयित्वा स्थिता भगवतो गन्तुं न ददति। क इव? त्वं
यथा हे मेघ? त्वं 'वल्गु' मनोज्ञं वर्षन् काशसे दीप्यसे। किं
(त्वम्)? विद्युन्माला सौदामिनीपङ्क्तिस्तया परिगतं वेष्टितं वपु
सः, हरिवध्वो विद्युन्माला, गलज्जलधारा च वृष्टिः, स्वामी
मेघः। चकाशे इत्यत्र "काशृङ् दीप्तौ" इतिधातोः परोक्षाए
यान्तस्य रूपम्। अत्र जातिनिदर्शनानुप्रासाः॥ ४८॥

अश्रान्तोऽपि श्रममिव वहन् व्यक्तमुक्तायिताम्भो-
बिन्दू रक्तोत्पलदललसन्मुक्तरक्ताङ्कुराढः।

श्रीमान्नेमिर्जलपतिकफत्पुण्डरीकप्रकाण्डो
　　वारांराशेरिव सुरकरी पुष्करिण्या निरैयः॥ ४९ ॥

श्रीमान्नेमिः 'पुष्करिण्याः' दीर्घिकायाः 'निरैयः' निरगच्छत् । क इव ? 'सुरकरी इव' यथा सुरकरी ऐरावणो 'वारांराशेः' समुद्रात् निरियर्त्ति (स्म)। किंरूपो भगवान् ? 'अश्रान्तोऽपि' अनिर्विण्णोऽपि श्रमं वहन्निव, यद्यपि भगवाननन्तवीर्यत्वात् क्रीडया खेदं नाप्नोति तथापीमा अपारमार्थिक्य इत्यनादरेण श्रममिव वहन् । पुनः किंरूपः ? 'व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः' व्यक्तं स्पष्टं मुक्तावदाचरिता अम्भोबिन्दवो यस्य स व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः, यथा ऐरावणस्य समुद्रे क्रीडित्वा निर्गतस्य मुक्ताः शरीरे लगन्ति, स्वामिनस्तु मुक्तासदृशा अम्भोबिन्दवः, एवं सर्वत्रैरावणधर्मो ज्ञेयः । पुनः कथंभूतः ? रक्तोत्पलदलानां लवैः पत्रशकलैरामुक्ता बद्धा रक्ताङ्गानां प्रवालानां राढा शोभा यस्य सः, समुद्रान्तः प्रवालानि अत्र च रक्तोत्पलदलशकलानि । पुनः किंरूपः ? जलपतिकफः फेनस्तद्वदाचरन्तः पुण्डरीकप्रकाण्डा धवलकमलमूलानि यस्य सः, ऐरावणस्य शरीरे फेनो लगति, प्रभोः फेनतुल्याः पुण्डरीकप्रकाण्डाः । निरैयरित्यत्र "ऋंक् गतौ" ऋ निर्पूर्वः, ह्यस्तनी–दिव्, "ह्वः शिति" (सि० ४–१–१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४–१–३८) ऋ अ, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४–१–५८) इत्वम्, "पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव्" (सि० ४–१–३७) इय्, "स्वरादेस्तासु" (सि० ४–४–३१) वृद्धिः ऐ, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४–३–१) अर्, "व्यञ्जनाद्देः सश्च दः" (सि० ४–३–७८) दिव्लोपः, "रः पदान्ते विसर्गस्तयोः" (सि० १–३–५३) विसर्गः । अत्र रूपकनिदर्शनोपमानुप्रासालङ्काराः ॥ ४९ ॥

इत्याचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-
महाकाव्यटीकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः सर्गः ।

पूर्वस्मिन् सर्गे भगवान् जलक्रीडां कृत्वा निर्गत इ
वसरोचितां चेष्टामाह—

तस्योत्तंसीकृतशतदले तोयबिन्दून् वमन्ती
बभ्रासाते विरुतनिरतालोलरोलम्बचुम्ब्ये ।
हा! त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः स्पर्धनादेनसां नौ
वृत्ते पात्रं प्ररुदित इतीवानुतप्ते सशब्दम् ॥ १ ।

'तस्य' भगवतः 'उत्तंसीकृतशतदले' कर्णाभरणीकृतशतपत्रे
साते' रेजाते । किं कुर्वती ? 'तोयबिन्दून् वमन्ती' उदक
स्रवन्ती, पुनः किंरूपे ? विरुतेषु शब्देषु निरता आसक्ता अ
चञ्चला रोलम्बा भ्रमराः तैश्चुम्ब्ये चर्वणीये । उत्प्रेक्ष्यते-
'अनुतप्ते' पश्चात्तापतापिते सती सशब्दं 'प्ररुदित इव' प्रकृष्ट
इव । इतीति किम् ? 'नौ' आवां 'हा' धिक्, किंरूपे नौ ?
क्यप्रभुनयनयोः' श्रीनेमिनयनयोः स्पर्धनात् 'एनसां' पापानां
भाजनं 'वृत्ते' जाते, तोयबिन्दुस्रवणं रोदनं भ्रमरारवश्च स
पश्चात्तापतयोत्प्रेक्षाश्चक्रे । नौ इत्यत्र हायोगे "गौणात् समय
षाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैर्द्वितीया" (सि० २–२–३३
द्वितीया । प्ररुदित इत्यत्र "रुतपञ्चकाच्छिदयः" (सि० ४–४–
इतीट् । अत्रोत्प्रेक्षानुमानानुप्रासाः ॥ १ ॥

दानश्च्योती द्विप इव झरन्निर्झरो वाञ्जनाद्रिः
पिण्डीभूतं वियदिव मनाक् शारदं वर्षदब्दम् ।
निन्ये सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पोऽञ्जनाभः
श्रीमान्नेमिः सपरिवृढतां फुल्लकङ्केल्लिमूलम् ॥ २ ॥

श्रीमान्नेमिः फुल्लो विकसितः कङ्केल्लिः अशोकस्तस्य मूलं सपरि
सनाथतां निन्ये, एतावता कङ्केल्लिमूले प्रभुस्तस्थावित्यर्थः । किं
भगवान् ? 'सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पः' सर्वेऽपघना अङ्गावयव

भ्यो निपतत् क्षरत् मेघपुष्पं जलं यस्य, पुनः किंरूपो भगवान् ? 'अञ्जनाभः' अञ्जनवर्णः । गलज्जलबिन्दून् वर्णं चाश्रित्य तदनुरूपा उत्प्रेक्षा आह, उत्प्रेक्ष्यते—'दानश्च्योती' दानं मदजलं श्च्योततीति क्षरतीति ईदृशो 'द्विपः' गज इव, उत्प्रेक्ष्यते–'झरन्निर्झरः' निर्झरस्रावी अञ्जनाद्रिर्वा इव, वा इवार्थे, अथवा उत्प्रेक्ष्यते–पिण्डीभूतं 'शारदं' शरत्संबन्धि 'वियत्' आकाशमिव । किंविशिष्टं वियत् ? 'मनाक्' अल्पं 'वर्षदब्दं' वर्षन् अब्दो मेघो यस्मिन् तत् । अत्र मालारूपोत्प्रेक्षापर्यायोक्तानुप्रासाः ॥ २ ॥

गोप्तुं शक्ते अपि गुणवती नैव सङ्गाज्जडानां
गुह्यं भर्तुस्तदलमनयोः सेवयेत्येष तूर्णम् ।
श्च्योतत्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी वातिसक्ते
अप्यत्याक्षीत् परिहितचरे वाससी श्वासहार्ये ॥ ३ ॥

'एषः' भगवान् इति 'परिहितचरे' पूर्वं परिहिते 'वाससी' वस्त्रे 'तूर्णं' शीघ्रं 'अत्याक्षीत्' त्यक्तवान् । इतीति किम् ? इमे गुणवती अपि जलानां सङ्गाद् भर्तुर्गुह्यं गोप्तुं न शक्ते, गुणास्तन्तवः, 'गुह्यं' आच्छाद्यमङ्गम्, 'तत्' तस्मात्कारणात् अनयोः सेवया 'अलं' पूर्यताम् । अत्रान्योक्तिमाह—अन्योऽपि यो गुणवानपि 'जडानां' मूर्खाणां सङ्गात् 'भर्तुर्गुह्यं' रहस्यं 'गोप्तुं' रक्षितुं शक्तो न भवति स स्वामिनः सेवकस्त्याज्यो भवति । किंरूपे वाससी ? उत्प्रेक्ष्यते– 'श्च्योतत्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी' 'वा' इवार्थे श्च्योतन्तः क्षरन्तः पाथसो जलस्य पृषता बिन्दवस्तेषां मिषतः कपटात् साश्रुणी अश्रुसहिते इव, पुनः किंरूपे ? 'अत्या(ति)सक्ते अपि' अत्यर्थमासक्ते लग्ने अपि । अन्योऽपि यः सेवकोऽत्यासक्तोऽतिभक्तो यदा केनचिद्दोषेण त्यज्यते तदा स साश्रुर्भवति । पुनः किंरूपे ? अतिलघुत्वात् 'श्वासहार्ये' श्वासेन हरणीये। साश्रुणी वेति वा इवार्थे, इवशब्दप्रयोगेऽपि मणी इव मणीवेत्यादिवत् परमतेन सन्धिर्भवति,

मनःपरिणामस्तदन्वायिनी तदनुगामिनी स्थितिः काल
तस्या विरचनं यासां ताः, कर्मणां हि स्थितिर्मनःपरि
बध्यते, यथा यथा क्लिष्टः परिणामः तथा तथा कर्मणां स्थिति
"ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनात् । यथा ज्ञाना
त्रिंशत्सागरकोटाकोटिमाना स्थितिः, एवं शेषाणामपि
किंरूपाः ? 'व्यक्तसद्वेषरागाः' व्यक्तः स्पष्टः सन् प्रधा
शृङ्गाररूपे रागो यासां ताः, 'भोगामुक्ताः' भोगैरमुक्ताः,
पक्षे व्यक्तः प्रकटः सद्वेषो द्वेषसहितो यो रागस्तस्याः
विस्तारस्तेन आमुक्ता बद्धाः, रागद्वेषविस्तारेण कर्मबन्ध इति
किंरूपाः ? 'विविधरुचयः' विविधा बहुप्रकारा रुचिः इच्छ
न्तिर्वा यासां ताः, प्रकृतिपक्षे विविधा रुचिः इच्छा भोगसु
ह्वादिका याभ्यस्ताः, कर्मप्रकृतिप्रेरणयैवाऽऽत्मनो विविधवा
भवात् । सङ्गतो युक्त आत्मनः प्रदेशोऽवस्थानरूपो यासां ता
युक्ते स्थाने स्थिता इत्यर्थः, प्रकृतिपक्षे सङ्गता मिलिता आत्मनः
यासां ताः, आत्मनः प्रदेशैर्हि कर्मस्कन्धप्रदेशा वह्नयय:पिण
येन सङ्गताः श्लिष्टा वर्तन्ते इति । अत्रोपमानश्लेषानुप्रासाः ।

> आचख्यावित्यथ सविनयं भीष्मजा राजदन्त-
> ज्योत्स्नाव्याजान्मलयजरसैः स्वामिनं सिञ्चती तम्
> विश्वेवास्मान् सहसि भगवन्कुप्यसे तद्विशङ्कं
> स्त्री गङ्गेवाधिवसति शिरो मानिताऽपीश्वरस्य ॥ ७

'अथ' अनन्तरं 'भीष्मजा' रुक्मिणी सविनयं यथा
इति 'आचख्यौ' जगाद । किं कुर्वती ? राजदन्तज्योत्स्नाव्य
'मलयजरसैः' चन्दनरसैः तं स्वामिनं सिञ्चती, राजदन्ता र
दन्तास्तेषां किरणान्येव बहुलत्वात् ज्योत्स्नेव ज्योत्स्ना तस्या व्य
कपटात् । इतीति किम् ? हे भगवन् ! चेत् यदि त्वं 'विश्वा
पृथ्वी इव अस्मान् 'सहसि' क्षमसे, यथा पृथिवी सर्वसहा
त्वमपि अस्माकमुच्चनीचवचनैर्यदि न कुप्यसि 'तत्' तस्मात् 'वि

निःशङ्कं 'उश्यसे' त्वं जल्प्यसे, स्त्री मानिता सती गङ्गेव ईश्वरस्यापि शिरोऽधिवसति, यथा गङ्गा ईश्वरेण मानिता सती शिरोऽधितष्ठौ । अत्र दन्तानां राजा राजदन्तः "राजदन्तादिषु" (सि० ३-१-१४९) अनेन राजशब्दस्य प्राग्निपातः । सहसीति "षह मर्षणे" षह्, "धात्वादेः षः सो-" (सि० २-३-९८) सह्, "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) इति विकल्पेन णिजभावः । उश्यसे इति "वशक् कान्तौ" वश् ते क्यः, "वशेरयङि" (सि० ४-१-८३) वकारस्य य्वृत् उ । अधिवसतीति योगे शिर इत्यत्र "उपान्वध्याङ्वसः" (सि० २-२-२१) अनेन आधारस्य कर्मत्वम् । अत्रातिशयोक्ति-अपह्नुति-उपमानार्थान्तरन्यासाः ॥ ७ ॥

पुनरपि रुक्मिणी वाक्यमाह—

रूपं कामस्तव निशमयन् व्रीडितोऽभूदनङ्गो
लावण्यं चाबिभ ऋभुविभुर्लोचनानां सहस्रम् ।
तारुण्यश्रीर्व्यशिषदथ ते पुष्पदन्तौ शरद्व-
न्नेताऽरण्यप्रसवसमतां त्वं विना स्त्रीरमूनि ॥ ८ ॥

हे देवर ! कामस्तव रूपं 'निशमयन्' विलोकयन् सन् 'व्रीडितः' लज्जितोऽनङ्गोऽभूत्, अग्रे काम एव रूपवानिति प्रसिद्धिरभूत्, यदा च भगवतो रूपं लोकोत्तरमात्माधिकं दृष्टं तदा तेन लज्जितेनाङ्गमेव त्यक्तं तदाप्रभृत्यनङ्गोऽभूत् । 'ऋभुविभुः' इन्द्रः तव लावण्यं निशमयन् लोचनानां सहस्रं 'अबिभः' अधरत्, इन्द्रस्तु लावण्यं विलोकयन् द्वाभ्यां लोचनाभ्यां द्रष्टुमक्षमत्वाल्लोचनसहस्रं बभार । 'अथ' अनन्तरं तारुण्यश्रीः ते रूपलावण्ये 'व्यशिषत्' विशिनष्टि स्म, किंवत् ? 'शरद्वत्' यथा शरत् 'पुष्पदन्तौ' चन्द्रसूर्यौ विशिनष्टि । त्वं 'अमूनि' रूपलावण्यतारुण्यश्रियः स्त्रीर्विना 'अरण्यप्रसवसमतां' अरण्यपुष्पतुल्यतां 'नेता' प्रापयिता, यथाऽरण्यपुष्पाणि कस्यापि कार्ये नाऽऽयान्ति एवं तवापि रूपलावण्यतारुण्यानि पाणिग्रहणं विना स्त्रीभोगाभावात् व्यर्थानि भविष्यन्ति ।

निशमयन् अत्र णिग् स्वार्थे यथा पालयतीति, ततः "शमोऽदर्शने" (सि० ४-२-२८) इतिसूत्रेण दर्शनार्थे ह्रस्वो न स्यात्, तेन निशामयन् स्यात्, परं केचित्तु दर्शनेऽपीच्छन्ति । अबिभः "डुडुभृंग्क् पोषणे च" भृ, ह्यस्तनी-दिव्, "अड् धातोरादि०" (सि० ४-४-२९), "ह्वः शिति" (सि० ४-१-१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४-१-३८) अत्, "द्वितीयतुर्ययोः प्रथमतृतीयौ (पूर्वौ)" (सि० ४-१-४२) भ ब, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४-१-५८), "नामिनो गुणो०" (सि० ४-३-१) अर्, "व्यञ्जनाद्देः सश्च दः" (सि० ४-३-१८) दिलोपः । व्यशिषत् "शिष्लृंप् विशेषणे" अद्यतनी-दि, "लृदित्" (सि० ३-४-६४) अ । पुष्पः० "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" (अभिधानचि० का० २-३८) इति । स्त्रीरित्यत्र "विना ते तृतीया च" (सि० २-२-११५) इति द्वितीया । इदं रूपं च इदं लावण्यं च इयं तारुण्यश्रीश्च अमूनि "समानामर्थेनैकः शेषः" (सि० ३-१-११८) एकशेषः, "स्त्रीपुंनपुंसकानां सहवचने स्यात्परं लिङ्गम्" (लिङ्गानुशासने) इति नपुंसकलिङ्गम् । अत्रोदात्तदृष्टान्तकाव्यलिङ्गालङ्काराः ॥ ८ ॥

अथ जाम्बवत्याह—

नाभेयोपक्रममिह यथा श्रायसोऽध्वा तथैवो-
द्वाहस्यापि स्मरसि तदुपज्ञं न किं देवरेति ।
तत्तां दैवीं स्तुतिमपमृजन् कोऽपि नूलोऽसि सार्वो
हारीभूतद्विजमणिघृणिर्जाम्बवत्यप्यगासीत् ॥ ९ ॥

जाम्बवत्यपि 'इति अगासीत्' एवमवादीत् । किंभूता जाम्बवती? 'हारीभूतद्विजमणिघृणिः' हाररूपतया भूता द्विजमणीनां दन्तमणीनां घृणयः (कान्तयः) यस्याः सा । इतीति किम्? 'इह यथा श्रायसोऽध्वा नाभेयोपक्रमं' इह जगति यथा येन प्रकारेण श्रायसो मोक्षसंबन्धी अध्वा मार्गो नाभेयस्य श्रीआदिदेवस्य उपक्रमं

आद्यं कृत्यम्, श्रीआदिदेवेन प्रथमं दर्शित इत्यर्थः, तथैव उद्वाहस्यापि अध्वा 'तदुपज्ञं' तस्यैव श्रीआदिदेवस्य उपज्ञं आद्यज्ञानम्, यतः—"उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" (अभिधानचि०का० ६–९) इति, ततः क्लीबत्वे "क्लीबे" (सि० २–४–९७) ह्रस्वः, विवाहस्यापि मार्गः प्रथमं तेनैव दर्शितः, हे देवर! इति किं न स्मरसि? 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं तां 'दैवीं' देवसंबन्धिनीं 'सृतिं' मार्गं 'अपमृजन्' लुम्पन् कोऽपि 'नूत्नः' नवीनः 'सार्वः' सर्वज्ञोऽसि। उपक्रमं उपज्ञं इत्यत्र "आदावुपक्रमोपज्ञे" (लिङ्गा० नपुं० ११) इति नपुंसकलिङ्गम्। श्रेयो मोक्षः श्रेयसोऽयं श्रायसः "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण्प्रत्ययः, "देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसस्तत्प्राप्तावाः" (सि० ७–४–३) एकारस्य आकारः। देवस्येयं दैवी अण् ङी। अहारो हारो भूताः हारीभूताः अभूततद्भावे च्विः, "ईश्च्वाववर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४–३–१११) ई। "कै गै रै शब्दे" गै, "आत् सन्ध्यक्षरस्य" (सि० ४–२–१) गा, अद्यतनी–दि, "सिजद्यतन्याम्" (सि० ३–४–५३) सिच् "सः सिजस्तेर्दिस्योः" (सि० ४–३–६५) ईआगमः, "यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च" (सि० ४–४–८६) इट् सोऽन्तः, "इट ईति" (सि० ४–३–७१) सिच्लोपः। अतस्त्वं पूर्वं पाणिग्रहणं कृत्वा पश्चाद्व्रतं ग्रहीथाः, इति श्रीऋषभप्रणीतौ द्वावपि मार्गौ समाचीर्णौ स्तः। अत्र काव्यलिङ्गदृष्टान्तनिदर्शनालङ्काराः ॥ ९ ॥

अथ लक्ष्मणाऽऽह—

गामानैषीद्वदनसदनं लक्ष्मणा लक्ष्मणास्ते
लक्ष्मीर्येषां घनवनमिवान्योपयोगैककृत्या।
त्वद्रूपश्रीर्जलधिजलवन्नोपजीव्या परैश्चेत्
तल्लोके कैर्विरस इति नो तर्क्यसे तद्वदेव ॥ १० ॥

लक्ष्मणा वदनसदनं 'गामानैषीत्' गां वाणीं, एतावता उवाचेत्यर्थः, अन्याऽपि गौः सदनं गृहमानीयते। लक्ष्मणावाच्यमाह—

'लक्ष्मणाः' लक्ष्मीवन्तस्ते येषां लक्ष्मीः 'घनवनमिव' मेघजलमिव 'अन्योपयोगैककृत्या' अन्योपयोग एव परोपकार एव एकं कृत्यं यस्याः सा, येषां लक्ष्मीः परोपकारे समेति ते लक्ष्मीवन्तः, यथा मेघजलं परोपकारे एति । 'चेत्' यदि त्वद्रूपश्रीः परैर्न उपजीव्या, किंवत्? 'जलधिजलवत्' यथा जलधिजलं परैर्नोपजीव्यते, 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं लोके कैः पुरुषैः 'तद्वदेव' समुद्रवदेव विरस इति 'नो तर्क्यसे?' नो विचार्यसे?, विरसः शृङ्गाररसरहितत्वा-न्नीरसः, अपि तु सर्वैरपि विचार्यसे, यथा समुद्रः सर्वैरपि विरस इति कथ्यते विरुद्धो रसो यस्येति विरसः क्षार इत्यर्थः, तथा त्वमपि विरसः कथ्यसे । लक्ष्मीर्विद्यते येषां ते लक्ष्मणाः "लक्ष्म्या अनः" (सि० ७–२–३२) अनप्रत्ययः, "अवर्णे-वर्णस्य" (सि० ७–४–६८) ईलोपः, "रषृवर्णान्नो णः०" (सि० २–३–६३) इति नस्य णत्वं । घनवनमिव जलधिजलवदित्यत्र यद्यपि लिङ्गभेद उपमादोषः तथाप्ययं क्वापि क्वापि प्रयुज्यते, यथा **वाग्भटालङ्कारे**—"हिममिव कीर्तिर्धवला" (४–५९) इति । अत्र पर्यायोक्ततुल्ययोगितोपमानानुप्रासाः । अत्र तव रूपलक्ष्मीः रूयाद्युपभोगे सति सरसा स्यादिति विशेषे प्रस्तुते सति सामा-न्यरूपाया लक्ष्म्या उक्तिरिति तुल्ययोगिता, "कार्ये निमित्ते सामान्ये, विशेषे प्रस्तुते सति । तदन्यस्य वचस्तुल्ये, तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ १ ॥" ॥ १० ॥

अथ सुसीमा प्राह—

उत्तस्थेऽथो सपदि गदितुं वाग्मिसीमा सुसीमा
धीमन्! पश्याकल इव गृही न प्रणाय्यः प्रणाय्यः ।
तत्त्वं तन्वन्नु गुरुगिरा स्वद्वितीयां द्वितीयां
प्राप्स्यस्यग्र्या विधुरिव कलाः सर्वपक्षे वलक्षे ॥ ११ ॥

'अथो' अनन्तरं सुसीमा 'सपदि' तत्कालं 'गदितुं' वक्तुं 'उत्तस्थे' उद्युक्ता बभूवेत्यर्थः । किंभूता सुसीमा? 'वाग्मिसीमा'

वाग्मिनां वाचोयुक्तीनां सीमा मर्यादा, अत्यर्थं वाग्मिनीत्यर्थः । हे धीमन्! 'पश्य' विलोकय 'गृही' गृहस्थः 'प्रणाय्यः' निष्कामः सन् 'अकल इव' निष्कल इव 'न प्रणाय्यः' न असम्मतः? अपि तु असम्मत एव । 'तत्' तस्मात्कारणात् 'ननु' निश्चितं त्वं 'गुरु-गिरा' ज्ञातिवृद्धवचनेन स्वस्य आत्मनो द्वितीयां 'द्वितीयां' पत्नीं तन्वन् सन् अग्र्याः कलाः सौभाग्यादिकाः प्राप्स्यसि । क इव? 'विधुरिव' यथा विधुः 'वलक्षे' उज्ज्वले सर्वपक्षे स्वद्वितीयां द्वितीयां तिथिं तन्वन् अग्र्याः कलाः प्राप्नोति । उत्तस्थे इत्यत्र "उदोऽनूर्ध्वे हे" (सि० ३-३-६२) आत्मनेपदम् । प्रणीयते इति प्रणाय्यः "प्रणाय्यो निष्कामासम्मते" (सि० ५-१-२३) इति घ्यण्प्रत्यये निपातः ।अत्र रूपकतुल्ययोगितोपमानानुप्रासाः ॥ ११ ॥

अथ गौरी प्राह—

नार्या आर्यापर परमिति त्वं द्विषन् कोऽसि निष्णो
जिष्णोर्मान्या प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो या ।
संपश्यस्व क्षणमपि महाव्रत्यपीशो न मुञ्चेद्
गौरीं गौरी गिरमिति जगौ प्रेमकोपादगौरी ॥ १२ ॥

गौरी इति गिरं जगौ । इतीति किम्? 'हे आर्यापर!' आर्येभ्यो मुग्धेभ्योऽपर वक्र त्वं 'नार्याः' स्त्रियः 'द्विषन्' द्वेषं कुर्वन् कः 'निष्णः' दक्षोऽसि? या नारी 'जिष्णोः' नारायणस्य मान्या, अथवा जिष्णोः जयनशीलस्य 'प्रतनभगवच्छान्तिमुख्या-र्हतो मान्या' प्रतनः चिरन्तनो भगवान् श्रीशान्तिर्मुख्यो यस्यासौ अर्हन् जिनः तस्य, श्रीशान्तिकुन्थुअरजिनानां चतुःषष्टिसहस्राणि अन्तःपुर्योऽभूवन् । 'संपश्यस्व' विलोकय महाव्रत्यपि ईशः क्षणमपि गौरीं न मुञ्चेत्, यो महाव्रतभृत् स्यात् स स्त्रियां सङ्गं कथं कुर्यात्? ईशस्तु महाव्रतीति प्रसिद्धोऽपि अर्धाङ्गविभक्तत्वात् पार्वतीं क्षणमपि न मुञ्चति, अतो या नारी जिष्णूनां लोकोत्तरश्रीशान्तिनाथमुख्य-

जिनानां मान्या, लौकिकस्य महाव्रतिनो हरस्यापि मान्या पाणिग्रहणाकरणेन पराङ्मुखतया तस्या नार्या द्विषन् नवीनः कोऽपि त्वं दक्ष इति प्रेमोपहासः। किंरूपा गौरी? 'प्रेमकोपात्' स्नेहकोपात् अगौरी, एतावता कोपाधिकारादारक्ता, सकोपोत्तया जनस्ताम्रवर्णः स्यादिति। नार्या इत्यत्र "द्विषो वाऽतृशः" (सि० २-२-८४) षष्ठी। संपश्यस्वेति "समो गमृच्छिप्रच्छि०" (सि० ३-३-८४) इत्यात्मनेपदम्। अत्र वक्रोक्तिविषमविरोधश्लेषानुप्रासाः ॥ १२ ॥

अथ सत्यभामाऽऽह—

सत्या सत्यापितकृतकवाक्कोपमाचष्ट सख्यः!
साध्यः साम्नां न जलपृषतां तप्तसर्पिर्वदेषः।
रुद्ध्वा तन्न स्वयमतिबलाच्चाशु वश्यं विधाय
स्वान्तं संविद्वदिममबलेत्यात्मदोषोऽद्य नोद्यः॥१३॥

'सत्या' सत्यभामा सत्यापितः (सत्यः) कृतः कृतकः कृत्रिमो वाक्कोपो वचनकोपो यत्र एवं यथा भवति 'आचष्ट' आचख्यौ, हे सख्यः! 'एषः' देवरः 'साम्नां' सामवाक्यानां न साध्यः, सामवाक्यैः साधयितुं वशीवर्तुं न शक्य इत्यर्थः। किंवत्? 'तप्तसर्पिर्वत्' यथा तप्तसर्पिः 'जलपृषतां' पयोबिन्दूनां न साध्यम्। 'तत्' तस्मात्कारणात् 'एनं (इमं)' नेमिनं रुद्ध्वा 'च' अन्यत् 'आशु' शीघ्रं अतिबलात् वश्यं विधाय अद्य अबला इति आत्मनो दोष आत्मदोषः 'न नोद्यः' न स्फेटनीयः? अपि तु स्फेटनीय एव। किंवत्? 'संविद्वत्' यथा संवित् ज्ञानं 'स्वान्तं' चित्तं रुद्ध्वा वश्यं विधाय आत्मनो दोषं नोदयति, सर्वत्रापि स्त्री अबला कथ्यते, अद्यैनं बलिनं वश्यं कृत्वाऽयं दोषो भेत्स्यते, अद्यप्रभृति महाकार्यसमर्थत्वात्कोऽपि आत्मनामबला इति न कथयिष्यति, एतावता हठेनापि एष वश्यः कार्य इति। सत्येति "ते लुग्वा" (सि० ३-२-१०८) इत्युत्तरपदभामाशब्दलोपः। सत्यः क्रियते स्म स-

त्यापितः "णिज् बहुलं०" (सि० ३-४-४२) णिच्, "सत्यार्थवेदस्याः" (सि० ३-४-४४) आकारः । साम्नामित्यत्र "कृत्यस्य वा" (सि० २-२-८८) इति षष्ठी । अत्र दृष्टान्तार्थान्तरन्यासानुप्रासाः ॥ १३ ॥

सत्यभामयोद्धतं वाक्यमुक्तं ततः पद्मावती प्रशस्तं वाक्यं प्राह—

पद्मावत्या तदनु जगदे नो मुदे देवरोऽसौ
नो कुत्राभूद्वद कुमुदिनीवत् कलाभृद्वयस्ये ! ।
अन्तर्धातुं प्रतिघमलिनाम्भोभृता तन्न युक्तं
पीयूषाब्धिं किमुत शिरसेशानवद्धर्तुमेतम् ॥ १४ ॥

'तदनु' ततोऽनन्तरं पद्मावत्या 'जगदे' प्रोचे—हे 'वयस्ये !' सखि सत्यभामे ! 'वद' ब्रूहि असौ देवरो 'नः'अस्माकं कुत्र 'मुदे' हर्षाय नोऽभूत् ? अपि तु सर्वत्राभूत् । किंवत् ? 'कुमुदिनीवत्' यथा कुमुदिनीनां 'कलाभृत्' चन्द्रः कुत्र हर्षाय न भवेत् ? अपि तु सर्वत्रापि स्यात् । एषोऽपि कलाश्चातुर्यादिका बिभर्तीति कलाभृत् । 'तत्' तस्मात्कारणाद् एतं 'प्रतिघमलिनाम्भोभृता' 'अन्तर्धातुम्' आच्छादयितुं न युक्तम्, प्रतिघः कोप एव मलिनोऽम्भोभृत् मेघस्तेन, किमुत ईशानवत् शिरसा एतं धर्तुं युक्तम् । किंविशिष्टमेतम् ? 'पीयूषस्य अब्धिं' अमृतस्य समुद्रं, सौभाग्यादिगुणैरत्यर्थमानन्दहेतुत्वादमृतसमुद्रवदाप्यायकत्वात् पीयूषाब्धिरेव यथा गौरेवायमित्यादि, चन्द्रोऽपि पीयूषस्य अब्धिः अमृतभृतत्वात्, कोऽर्थः ? यथा चन्द्रो मलिनघनेनाऽऽच्छाद्यते तदयुक्तम्, यत् (च) ईश्वरेण शिरसि धार्यते तद्युक्तम्, तथा एषोऽपि भगवान् सकोपवाक्यैर्यत्तिरस्क्रियते तदयुक्तं परं भक्त्या सत्क्रियते तद्युक्तं, महान्तो हि भक्त्या ग्राह्या न तु शक्त्या । अत्रोपमानरूपकातिशयोक्त्यलङ्काराः ॥ १४ ॥

अथ गान्धारी प्राह—

गान्धारी चावगिति न परं ब्रह्मतो ब्रह्म जन्मा-
द्धृत्वैतासे ध्रुवमुपयतावप्यवाप्तासि तच्च ।
अस्तुङ्कारात् सुखय ननु नः पादयोः पत्यते ते
दास्यः स्मस्ते पटुचटुगिरा राज्यमप्याप्यमीश ! ॥ १५ ॥

'च' अन्यद् गान्धारी इति अवक्-हे देवर! त्वं जन्मात् 'ब्रह्म' ब्रह्मचर्यं धृत्वा 'ब्रह्मतः' मोक्षात् परं 'न एतासे' न गन्तासि, 'उपयतावपि' पाणिग्रहणेऽपि 'ध्रुवं' निश्चितं 'तत्' ब्रह्म अवाप्तासि (प्राप्तासि), कोऽर्थः? यदि यावज्जीवमपि ब्रह्मचर्यं धरसि तदापि मोक्षादूर्ध्वं न यास्यसि, यदि च परिणेष्यसि तदापि मोक्षं यास्यस्येव, अर्हतां मोक्षगतेर्निश्चितत्वात्। 'ननु' वितर्के, 'अस्तुङ्कारात् 'नः' अस्मान् 'सुखय' सुखभाजः कुरु, अस्तु भवतु अधिकारात् पाणिग्रहणमस्तु इति वचनकरणात् । 'ते' तव पादयोः पत्यते । वयं 'ते' तव दास्यः स्मः । हे ईश! 'पटुचटुगिरा' स्पष्टचाटुवाण्या राज्यमपि 'आप्यं' प्राप्यम् । अस्तु इति त्यादिप्रतिरूपकमव्ययम्, ततः अस्तु करणं अस्तुङ्कारः "भावाकर्त्रोः" (सि० ५-३-१८) घञ्प्रत्ययः, "सत्यागदास्तोः कारे" (सि० ३-२-११२) मोऽन्तः । सुखय इति "सुख दुःखण् तत्क्रियायाम्" इति धातुः । अत्र काव्यलिङ्गोदात्तानुप्रासाः ॥ १५ ॥

अन्योऽन्यस्यां सरसरसना नेतुरुत्केतुरागा
मत्स्यण्डीयुक्त्रिकटुगुटिकाकल्पमित्युक्तवत्यः ।
प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुरेताः ॥ १६ ॥

'एताः' अन्तःपुर्यः 'नेतुः' स्वामिनः 'प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमालाबालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुः' प्रेम स्नेहः तस्य स्थेम्ना स्थैर्येण क्षितितले पृथ्वीतले मिलन् मौलिः मस्तकं तत्र या माणिक्यमाला तस्या या बालांशुश्रीः बालकिरणलक्ष्मीः तस्याः शरणे स्थाने ये चरणाम्भोजे चरणकमले तयोः पेतुः । किं

कुर्वत्यः ? 'अन्योऽन्यस्यां' परस्परं 'इति' अमुना प्रकारेण 'मत्स्यण्डीयुक्तित्रिकटुगुटिकाकल्पमुक्तवत्यः' मत्स्यण्डी खण्डं तेन (तया) युक् तन्मिश्रा या त्रिकटुगुटिका तत्कल्पं तत्समानं भाषितवत्यः, कोऽर्थः ? यथा खण्डमिश्रास्त्रिकटुगुटिकाः किञ्चित्तिक्ताः किञ्चित् मधुराश्च भवन्त्येवं काचिदुद्धतं काचिन्मधुरं च बभाषे । किंरूपाः ? 'सरसरसनाः' सरसजिह्वाः, पुनः किंविशिष्टाः ? उत्केतुः उत्पताक एतावताऽत्युत्कृष्टः रागो यासां ताः, एतावता सर्वा अपि पट्टदेव्यः स्वां स्वां युक्तिमुक्त्वा युगपत्प्रभोः पादयोः पेतुरित्यर्थः । अन्योऽन्यस्यामित्यत्र "परस्परान्योऽन्येतरेतरस्यां स्यादेर्वा पुंसि" (सि० ३–२–१) इत्यनेन अन्योऽन्यस्य शब्दस्याग्रे विभक्तेराम्, ईषदपरिसमाप्ता त्रिकटुगुटिका त्रिकटुगुटिकाकल्पम्, "अतमबादेरीषदसमाप्ते कल्पप् देश्यप् देशीयर्" (सि० ७–३–११) इति कल्पप्प्रत्ययः । अत्रातिशयोक्त्युपमोदात्तानुप्रासाः ॥ १६ ॥

सर्वानन्यानपि ननु सुखाकुर्वतः प्रीतितन्तु-
स्यूतस्वान्ताः प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः ।
दुःखाकर्तुं तव समुचिता न प्रजावत्य एता
राजीविन्यो दिनकृत इवावोचदित्यच्युतोऽपि ॥ १७ ॥

'अच्युतोऽपि' नारायणोऽपि इति अवोचत्, इतीति किम् ? हे बन्धो ! तव एताः 'प्रजावत्यः' भ्रातृजायाः 'दुःखाकर्तुं' दुःखयितुं न समुचिताः । कस्येव ? 'दिनकृत (इव)' सूर्यस्येव, यथा दिनकृतः 'राजीविन्यः' कमलिन्यो दुःखाकर्तुं न समुचिताः । किंरूपा एताः ? 'प्रीतितन्तुस्यूतस्वान्ताः' प्रीतिरेव तन्तुस्तेन स्यूतं स्वान्तं मनो यासां ताः, एतावताऽत्यन्तस्नेहलाः, पुनः किंरूपाः ? 'प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः' प्रणयः प्रेम विनयश्च तयोराधानेन न्यसनेन दैन्यं दीनत्वं प्रपन्नाः । किं कुर्वतस्तव ? सर्वानन्यानपि 'सुखाकुर्वतः' सुखयतः, एतावता त्वमन्यान् सर्वानपि सुखयसि तत एता भ्रातृजाया दुःखयितुं कथं युक्ताः ? । सुखाकुर्वत इत्यत्र

"प्रियसुखादानुकूल्ये" (सि० ७–२–१४०) डाप्रत्ययः । दुःख कर्तुमित्यत्र "दुःखात्प्रातिकूल्ये" (सि० ७–२–१४१) डाप्रत्ययः अत्रोपमानकाव्यलिङ्गानुप्रासाः ॥ १७ ॥

बाहौ धृत्वा प्रियमधुमुखा अप्यभाषन्त बन्धो !
सन्तः प्रायः परहितकृते नाद्रियन्ते स्वमर्थम् ।
प्रष्ठस्तेषामपि बत ! कुतोऽतद्विलोपेऽपि दत्से-
ऽनन्वग्भूय स्वजनमनसामेवमाभीलकीलाः ॥ १८ ॥

'प्रियमधुमुखा अपि' बलदेवमुख्या अपि अर्थात्तं भगवन्तं बाहौ धृत्वाऽभाषन्त, लोके हि संबन्धी सदाक्षिण्यः स्मितपूर्वकाग्रहेण बाहौ धृत्वा असम्मतमपि वस्तु अङ्गीकारयेत इति । हे बन्धो ! सन्तः प्रायः 'परहितकृते' अन्यहितार्थं 'स्वमर्थं' स्वकार्यं नाद्रियन्ते आत्मार्थं मुक्त्वा परहितं कुर्वन्ति, बत इति खेदे, त्वं 'तेषां' सतां 'प्रष्ठोऽपि' मुख्योऽपि 'अतद्विलोपेऽपि' तस्य स्वार्थस्य विलोपो विनाशः तद्विलोपः, न तद्विलोपोऽतद्विलोपस्तस्मिन् स्वार्थस्याविनाशेऽपि 'अनन्वग्भूय' प्रतिकूलो भूत्वा स्वजनमनसां 'एवं' अमुना प्रकारेण 'आभीलकीलाः' कष्टज्वालाः कुतो हेतोर्दत्से ? कोऽर्थः ?, परोपकारपराणां साधूनां मुख्यस्त्वम्, तवार्थो मोक्षलक्षणः पाणिग्रहणेऽपि न विनश्यन्नस्ति, एवं सति त्वं स्वजनमनसां पाणिग्रहणनिषेधरूपाः कष्टज्वालाः कुतो ददासि ? । अन्वग्भवनं पूर्वं अन्वग्भूय, न अन्वग्भूय अनन्वग्भूय "आनुलोम्येऽन्वचा" (सि०५-४-८८) क्त्वाप्रत्ययः, "अनञः क्त्वो यप्" (सि० ३–२–१५४) । अत्राप्रस्तुतप्रशंसाविरोधरूपकानि ॥ १८ ॥

तीर्थेष्वन्येष्वमितविमतिर्दृश्यते दर्शनानां
सर्वेषां तु स्फुरति पितरौ तीर्थमत्यन्तमान्यम् ।
तौ ताम्यन्तौ त्वदनुपयमान्मोदयस्वद्य चेत्त्वत्
को दोषः स्यादितरवनिता अप्यवोचन्त चेति ॥ १९ ॥

'इतरवनिता अपि' अन्यनार्योऽपि 'च' अन्यत् इति अवोचन्त । इतीति किम् ? 'दर्शनानां' शैवसाङ्ख्यादिशासनानाम् अन्येषु तीर्थेषु 'अमितविमतिः' बहुविसंवादो दृश्यते, सर्वेषु शासनेषु तीर्थविषयेऽपरिमितो विवादो दृश्यते, यथा माहेश्वराणां गङ्गागयादिकं जैनानां श्रीशत्रुञ्जयरैवतादिकमित्यादि, 'तु' पुनः सर्वेषां दर्शनानां 'पितरौ' मातापितरौ अत्यन्तमान्यं तीर्थं स्फुरति, सर्वेष्वपि दर्शनेषु मातापितरौ निर्विवादं तीर्थतया मन्येते, यतः—"असार्थप्रार्थनं तीर्थमदेहद्रोहणं तपः । अनम्भःसंभवं स्नानं मातुश्चरणचर्चनम् ॥ १ ॥" अद्य चेत्तौ पितरौ 'मोदयसि' हर्षयसि, किं कुर्वन्तौ पितरौ ? 'त्वदनुपयमात्' तवापाणिग्रहणात् 'ताम्यन्तौ' खिद्यमानौ, तत् को दोषः स्यात् ? कोऽर्थः ? यौ पितरौ सर्वदर्शनमान्यौ तौ यदि विवाहस्वीकारान्मोदयसि तदा कोऽपि दोषः स्यात् ? । अत्रार्थान्तरन्यासविषमालङ्कारौ ॥ १९ ॥

ध्येयश्रेयः प्रणव इव यद्यद्विधेयोरसं यत्
दुःसाधं चाभिदधति विदः प्राणितव्यव्ययेऽपि ।
ओमित्युक्त्याऽप्यखिलतनुमन्मोदनं तद्विधातुं
किं कौसीद्यं विदुर तव तद्वर्तिनोऽन्येऽप्यवोचन् ॥ २० ॥

'तद्वर्तिनः' तत्स्थानस्थायिनोऽन्येऽपि लोका इति अवोचन्, इतीति किम् ? यत् 'अखिलतनुमन्मोदनं' सकलप्राणिहर्षणं 'प्रणव इव' ॐकार इव 'ध्येयश्रेयः' ध्येयेषु श्रेयः श्रेष्ठं यथा ध्येयेषु ॐकारः शस्यते, एवं यदपि प्रतिदिनं ध्यायते यद् 'विधेयोरसं' विधेयेषु कर्तव्येषु उरसं प्रधानं यत् 'विदः' विद्वांसः 'प्राणितव्यव्ययेऽपि' जीवितव्यविनाशेऽपि 'दुःसाधं' साधयितुमशक्यं 'अभिदधति' ब्रुवते, यदि प्राणितव्यं व्यय्यते तथापि यत् कर्तुं न शक्यते, 'हे विदुर!' हे दक्ष! तव तद् अखिलतनुमन्मोदनं ओमित्युक्त्यापि विधातुं 'किं कौसीद्यं' किमालस्यम्, ओम् अङ्गीकृतं मया पाणिग्रहणम् इति वचनेनापि यदि सकलप्राणिनोऽपि हृष्यन्ति तदा तद्विषये किमालस्यं

क्रियते ? । विधेयेषु उरः प्रधानं विधेयोरसम् "उरसोऽग्रे" (सि ७-३-११४) अत्प्रत्ययः । दुःखेन कृच्छ्रेण साध्यते इति दु साधं "दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात् खल्" (सि०-५-३-१३९ खल्प्रत्ययः । अत्र परिकरातिशयोक्त्युदात्तानि ॥ २० ॥

नेताऽप्यन्तर्मनसमसकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः
किञ्चिद्ध्यात्वा लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्तम् ।
दुःखादास्यं दरविकसिताम्भोजयन्नावभाषे
माधुर्याधःकृतमधुसुधं सम्मतं वो विधास्ये ॥ २१ ॥

नेताऽपि 'माधुर्याधःकृतमधुसुधं' यथा भवति आबभाषे, माधुर्येण अधःकृते मधुसुधे यत्र तत्, किं कृत्वा ? 'अन्तर्मनसं' मनोऽन्तः किञ्चिद्ध्यात्वा, किं कुर्वन् ? दुःखात् 'आस्यं' मुखं 'दरविकसिताम्भोजयन्' दरविकसितं ईषद्विकसितं अम्भोजं तदिव कुर्वन् । किंरूपः ? 'असकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः' असकृत् पुनः पुनः मीलिते संकुचिते उन्मीलिते उद्घाटिते अक्षिणी येन सः । किंरूपं आस्यम् ? 'लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्तं' लसिता उल्लसिता दशनानां दन्तानां अभीशवः किरणास्त एव किञ्जल्कः परागः तेन कान्तम् । किं बभाषे ? तदाह—अहं 'वः' युष्माकं 'सम्मतं' इष्टं विधास्ये । अयमर्थः—यदा स्वामी कृष्णान्तःपुरीकृष्णबलदेवयदुवर्गेण भृशं रुद्धो नाच्छुटत् तदा स्वामी चिरकालं नयनसंकोचविकाशाभ्यां ध्यानं कृत्वा राजीमत्या अगोचरं यदहं पश्चादपि व्रतमादास्य इत्यादिकं मनसि चिरं चिन्तयित्वा गम्भीरार्थं वचनं व्याजहार—यदहं युष्माकं सम्मतं विधास्ये परमार्थतः सम्मतं व्रतमेव । मनसोऽन्तरन्तर्मनसं "शरदादेः" (सि०७-३-९२) अत्प्रत्ययः समासान्तः । सम्मीलिते उन्मीलिते अक्षिणी येन सः "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" (सि० ७-३-१२६) अत्प्रत्ययः । दरविकसिताम्भोजमिव कुर्वन् "णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु" (सि०३-४-४२) । अत्र जातिरूपकातिशयोक्त्यनुप्रासाः ॥ २१ ॥

एतद्वर्णश्रवणमुदितः श्रीपतिः प्रोत्पताका-
दण्डैर्ह्लादादिव सपुलकां तत्पटान्तैः प्रनृत्ताम् ।
वर्णार्णोभिः सरणिनिहितैः क्लृप्तपीनाङ्गरागां
मुक्तालेख्यैः स्फुरितहसितां द्वारिकामभ्यगच्छत् ॥२२॥

'श्रीपतिः' कृष्णो द्वारकाम् अभ्यगच्छत् । अत्र द्वारकाया विशेषणरूपैः कृत्वा बलादपि कान्ताधर्मारोप आक्षिप्यते, अन्योऽपि यदा स्वामी स्वकान्तामभिगच्छति तदा सा शृङ्गारमुदारमारचयति, अतो विशेषणद्वारेण तद्भावमाह—किंरूपां द्वारकाम्? 'प्रोत्पताकादण्डैः सपुलकां' प्रकृष्टा उत् ऊर्ध्वाः पताकानां केतूनां दण्डास्तैः सरोमाञ्चाम्, उत्प्रेक्ष्यते—'ह्लादादिव' हर्षादिव, 'तत्पटान्तैः' ध्वजपटाञ्चलैः 'प्रनृत्तां' कृतनृत्याम्, पुनः किंरूपाम्? 'सरणिनिहितैः' मार्गन्यस्तैः 'वर्णार्णोभिः' कुङ्कुमाम्भोभिः 'क्लृप्तपीनाङ्गरागां' क्लृप्तो रचितः पीनोऽङ्गरागो यया सा ताम्, 'मुक्तालेख्यैः मौक्तिकचित्रैः 'स्फुरितहसितां' स्फुरितहास्याम् । किंरूपः श्रीपतिः? 'एतद्वर्णश्रवणमुदितः' अहं युष्माकं सम्मतं विधास्ये एते वर्णा अक्षराणि तेषां श्रवणेन मुदितो हृष्टः । अत्रातिशयोक्तिसमासोक्त्यनुप्रासाः ॥२२॥

दुग्धं स्निग्धं समयतु सिता रोहिणी पार्वणेन्दुं
हैमी मुद्रा मणिमुरुघृणिं कल्पवल्ली सुमेरुम् ।
दुग्धाम्भोधिं त्रिदशतटिनीत्यादिभिः सामवाक्यैः
श्रीनेम्यर्थं झगिति च स मद्बीजिनं मां ययाचे ॥२३॥

हे जलधर! 'सः' श्रीकृष्णः 'श्रीनेम्यर्थं' श्रीनेमिनाथकृते 'झगिति च' तत्कालमेव 'मद्बीजिनं' मत्पितरं मां ययाचे, 'च' अवधारणे, याचिधातुर्द्विकर्मकः, अतो द्वारिकापुरीमागत्य तत्कालमेव श्रीनेमिपाणिग्रहणाय मत्पितुः पार्श्वेऽहं श्रीकृष्णेन प्रार्थिता । कदाचित्प्राणेन प्रभुतया प्रार्थिता भविष्यतीत्येतदपोहायाह—कैः? इत्यादिभिः सामवाक्यैः, इतीति किम्? 'सिता' शर्करा स्निग्धं दुग्धं

'समयतु' मिलतु, रोहिणी 'पार्वणेन्दुं' पार्वणचन्द्रं समयतु, 'हैमी' सुवर्णसंबन्धिनी मुद्रा मणिं समयतु, किंरूपं मणिम्? 'उरुघृणिं' गुरुकान्तिम्, कल्पवल्ली सुमेरुपर्वतं समयतु, 'त्रिदशतटिनी' गङ्गा 'दुग्धाम्भोधिं' समुद्रं समयतु। यथैते योगाः श्लाघ्याः सन्ति तथा श्रीनेमिराजिमत्योरपि योगो भवतादित्यर्थः। अत्राप्रस्तुतप्रशंसासमुच्चयतुल्ययोगितासामान्यविशेषसमासोक्त्यनुप्रासाः ॥ २३ ॥

तद्बुद्ध्वान्तर्मुदमबिभृतां श्रीसमुद्रः शिवा च
प्रावृट्कालोदितमिव नवं त्वां सुराजा प्रजा च।
तत्तत्कार्येष्वथ गणकतोऽवेत्य लग्नं विलग्नं
प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदामक्रमेताम् ॥ २४ ॥

श्रीसमुद्रः शिवा च तत् 'बुद्ध्वा' ज्ञात्वा 'अन्तः' चित्ते 'मुदं' हर्षम् 'अबिभृतां' अधरताम्, कमिव? त्वामिव, यथा सुराजा प्रजा च 'प्रावृट्कालोदितं' वर्षाकालोन्नतं 'नवं' नवीनं त्वां बुद्ध्वा मुदं बिभृतः। 'अथ' अनन्तरं श्रीसमुद्रः शिवा च 'तत्तत्कार्येषु' विवाहसंबन्धिलोकप्रसिद्धकार्येषु 'अक्रमेतां' उत्सहेते स्म, किं कृत्वा? 'गणकतः' ज्योतिषिकात् लग्नं 'अवेत्य' ज्ञात्वा, किंरूपं लग्नम्? 'प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदां विलग्नं' प्राप्त उद्वाहो विहावो येन एवंविध उद्वहः पुत्रस्तस्य मह उत्सवस्तस्य या महःसंपदः तेजोलक्ष्म्यः तासां विलग्नं मध्यम्। एतावता एके उत्सवा लग्नात्पूर्वं भवन्ति अपरे उत्सवा लग्नसाधनादनु भवन्ति अतो लग्नं मध्यम्। अक्रमेतामित्यत्र "क्रमोऽनुपसर्गात्" (सि० ३-३-४७) "वृत्तिसर्गतायने" (सि० ३-३-४८) सर्ग उत्साहस्तत्रार्थे आत्मनेपदम्। अत्रोपमानोदात्तानुप्रासाः ॥ २४ ॥

लग्नेऽभ्यासीभवति दिवसे दारकर्मण्यकर्मा-
ण्यारभ्यन्त प्रति यदुगृहं त्यक्तकृत्यान्तराणि।
वासन्ताहे प्रतितरु यथा पल्लवानि प्रकामं
पुष्पोत्पाद्यान्यखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि ॥ २५ ॥

'लाग्ने' लग्नसम्बन्धिनि दिवसे 'अभ्यासीभवति' आसन्ने जायमाने सति प्रति यदुगृहं 'दारकर्मण्यकर्माणि' विवाहकर्मसाधूनि कार्याणि आरभ्यन्त । किंरूपाणि दारकर्मण्यकर्माणि ? 'त्यक्तकृत्यान्तराणि' त्यक्तानि कृत्यान्तराणि कार्यान्तराणि येभ्यः । अत्र दृष्टान्तमाह–यथा 'वासन्ताहे' वसन्तसंबन्धिनि दिने 'प्रतितरु' वृक्षं वृक्षं प्रति 'प्रकामं' अत्यर्थं पल्लवानि आरभ्यन्ते, किंविशिष्टानि पल्लवानि ? 'पुष्पोत्पाद्यानि' पुष्पाणि उत्पाद्यानि उत्पादनीयानि येषां तानि, पल्लवानन्तरं हि पुष्पाणि जायन्त इति, पुनः किंरूपाणि पल्लवानि ? 'अखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि' अखिलानि समस्तानि गलितानि प्रत्नानि पुराणानि पत्रान्तराणि अन्यपत्राणि येषु तानि । अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरित्थं घटना–पल्लवस्थाने कर्माणि, विवाहस्थाने पुष्पम् , कृत्यान्तरस्थाने पत्रान्तराणि इति । लाग्ने इत्यत्र लग्नस्यायं लाग्नः "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१) वृद्धिः । अनभ्यासोऽभ्यासो भवति अभूततद्भावे च्विः, "ईश्चाववर्णस्या०" (सि० ४–३–१११) ई । दारकर्मणि साधूनि "तत्र साधौ" (सि० ७–१–१५) । वसन्तस्येदं वासन्तम् "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् , वृद्धिः वासन्तं च तत् अहश्च, "अह्नः" (सि० ७–३–११६) अट् प्रत्ययः, "नोऽपदस्य तद्धिते" (सि० ७–४–६१) अन्लोपः । प्रतितरु तरुं तरुं प्रति प्रतितरु "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (सि०–२–२–३७) इति द्वितीयाकारके "विभक्तिसमीप०" (३–१–३९) इत्यव्ययीभावः । अत्रानुप्रासातिशयोक्तिदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ २५ ॥

हृद्यातोद्यध्वनितरसितः केकिकण्ठाभिराम-
क्षौमोल्लोचोन्नतघनततिर्दर्पणोत्कम्पशम्पः ।
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णमङ्गल्यदामो–
द्दीप्तेन्द्रास्त्रः स्वनुकृतपयोधारमुक्तावचूलः ॥ २६ ॥

पङ्काशङ्कास्पदमृगमदो वर्य्यवैडूर्यनद्ध-
क्षोणीखण्डोन्मुखरुचिरुहो मागधाधीतिकेकः ।
आसीत् पित्रा स्थपतिकृतिनाऽनेहसा सद्ग्रहेणे-
वाम्भोदर्तुः प्रगुणिततमो मण्डपश्चौपयामः ॥२७॥युग्मम्॥

'औपयामः' विवाहसंबन्धी मण्डप आसीत् । किंरूपो मण्डपः ? पित्रा प्रयोजकेन कर्त्रा 'स्थपतिकृतिना' स्थपतिषु सूत्रधारेषु कृती कुशलो यस्तेन गौणकर्त्रार्थे 'प्रगुणिततमः' अत्यर्थं सज्जीकारितः, क इव ? 'अम्भोदर्तुः' मेघर्तुरिव यथाऽम्भोदर्तुः 'अनेहसा' कालेन प्रयोजककर्तृभूतेन 'सद्ग्रहेण' अनुकूलग्रहेण प्रयोज्यकर्तृरूपेण प्रगुण्यते सज्जीकार्यते । अथ वर्षर्तुसामग्रीयुक्तानि मण्डपविशेषणान्युच्यन्ते–पुनः किंविशिष्टः ? 'हृद्यातोद्यध्वनितरसितः' हृद्यानां मनोज्ञानाम् आतोद्यानां वादित्राणां ध्वनितं शब्दितमेव रसितं गर्जितं यत्र सः, केकिनां मयूराणां कण्ठस्तद्वद् अभिरामा एतावता श्यामाः क्षौमोल्लोचा दुकूलचन्द्रोद्योतास्त एवोन्नता घना मेघास्तेषां ततिः श्रेणिर्यत्र, दर्पणा आदर्शा एव उत्कम्पाः शम्पाः विद्युतो यस्मिन् उत् प्राबल्येन कम्पो यासां ता उत्कम्पाः,रत्नश्रेणिभिः खचितं बद्धं निचितं दृढं सुवर्णसम्बन्धि मङ्गल्यदाम तोरणं तदेवोद्दीप्तं भासुरमिन्द्रास्त्रं इन्द्रधनुर्यत्र, सुष्ठु अत्यर्थमनुकृता अनुगताः पयोधारा जलधारा यैस्तानि मुक्तावचूलानि मौक्तिकझुम्बनकानि यत्र, मौक्तिकझुम्बनकानि जलधरा इत्यर्थः, पङ्कस्य कर्दमस्य आशङ्काया भ्रान्तेरास्पदं स्थानं मृगमदः कस्तूरी यत्र, सौगन्ध्यापादनाय न्यस्तानि कस्तूरीखण्डान्येव कर्दमभ्रान्तिकराणि । वर्य्यैर्वैडूर्यैर्नद्धं बद्धं क्षोणीखण्डं तस्योन्मुखा ऊर्ध्वमुखा रुचयः किरणान्येव रुहा अङ्कुरा यत्र, वर्षासु हि भूमावङ्कुरा उल्लसन्ति । मागधानामधीतिः मङ्गलशब्दच्छन्दोगीतकवित्वादिभणनं सैव केका मयूरध्वनिर्यत्र सः । प्रगुणं सज्जं क्रियते स्म "णिज् बहुलं०" (सि० ३–४–४२) णिच्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः । प्रगुण्यते स

क्तः प्रत्ययः "स्ताद्यशितो०" (सि० ४-४-३२) इट्, "सेट्-क्तयोः" (सि० ४-३-८४) इति णिज्लोपः, प्रकृष्टः प्रगुणितः प्रगुणिततमः "प्रकृष्टे तमप्" (सि० ७-३-५)। औपयाम इति "यमूं उपरमे" यम् उपपूर्वः, उपयमनमुपयामः "संनिव्यु-पाद्यमः" (सि० ५-३-२५) इति अल्विकल्पात् "भावा-कर्त्रोः" (सि० ५-३-१८) घञ् प्रत्ययः, वृद्धिः, उपयामस्यायं औपयामः "तस्येदम्" (सि० ६-३-१६०) अण् प्रत्ययः, वृद्धिः । अत्रानुप्रासदृष्टान्तरूपकसमुच्चयपरिकराः ॥ २६-२७ ॥

आमोदेनानुपरततरोऽहर्दिवं यादवीनां
विष्वग्व्यापी पुरुरथ पुरेऽभूदुलूलध्वनिर्यत् ।
मन्ये धन्येतरनरकुलेष्वप्यनुत्साहधाम्नां
शोकानां तत्प्रतिहतिजुषां तन्ननाशावकाशः ॥ २८ ॥

'अथ' अनन्तरं 'पुरे' नगरे यत् 'यादवीनां' यदुस्त्रीणां 'पुरुः' प्रभूतः 'उलूलध्वनिः' धवलध्वनिरभूत् । किंरूप उलूलध्वनिः ? 'आमोदेन' हर्षेण 'अहर्दिवं' दिने दिने 'अनुपरततरः' अत्यन्तम-निवृत्तः, हर्षेण यदुस्त्रियः कदाचिदपि धवलान् ददाना न निवर्त-मानाः सन्ति इत्यर्थः । पुनः किंभूतः ? 'विष्वग्व्यापी' अतीव मधुरतारत्वात्समन्तात्प्रसरणशील इति । अहमेवं मन्ये 'तत्' तस्मा-त्कारणात् 'धन्येतरनरकुलेष्वपि' सशोककुलेष्वपि शोकानामवकाशो ननाश, किंरूपाणां शोकानाम् ? 'अनुत्साहधाम्नां' दैन्यस्थानकानाम्, पुनः कथंभूतानाम् ? 'तत्प्रतिहतिजुषां' तेन उलूलध्वनिना प्रतिहतिः निराकरणं तां जुषन्तीति तत्प्रतिहतिजुषाम्, एताव-ताऽधमकुलेष्वपि तदा हर्ष एवास्ति न शोक इत्यर्थः । अहर्दिव-मिति अहश्च दिवा च अहर्दिवम् "ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्म-नस०" (सि० ७-३-९७) इत्यादिना समासान्तः अत्प्रत्ययः, अहर्दिवेति निपातः, पश्चात् "कालाध्वनोर्व्याप्तौ"(सि०२-२-४२) इति द्वितीया-अम् । अत्रातिशयोक्तिरनुमानमनुप्रासश्च । तत्रानु-

मीनम्—एतन्नगरकुलानि सर्वाणि शोकरहितानि, उलूलध्वनिव्याप्तत्वात्, जायमानविवाहादिमङ्गलगृहवत् ॥ २८ ॥

भूभृत्प्रेक्ष्या अपि वरवधूतातयोः प्रीतिभाजोः
सौधेष्वन्धङ्करणतिमिरारातिरत्नाजिरेषु ।
सीत्यस्यात्यादरभरमिलत्पौरसद्गौरवार्थं
पुञ्जा व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य चापीपचन्त ॥ २९ ॥

वरवधूतातयोः सौधेषु अत्यादरभरमिलत्पौरसद्गौरवार्थं 'भूभृत्प्रेक्ष्या अपि' पर्वतवद्दर्शनीया अपि 'व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य' 'सीत्यस्य' धान्यस्य पुञ्जा अपीपचन्त प्रथना मुद्गाः सुमना गोधूमा आढ्या यत्र तत् व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यं तस्य । अपीपचन्तेति जनाः पुञ्जान् पचन्ति, तान् पचतः पितरौ प्रयुञ्जाते । द्वितीयोक्तौ पितरौ जनैः पुञ्जान् पाचयतः, तावेवं विवक्षेते—नावां पुञ्जान् पाचयावः किन्तु पुञ्जा एव योग्यतया सुपरिकर्मिततया पाचने जनान् स्वयमेव प्रायुञ्जन् इति। तृतीयोक्तौ कर्मकर्तरि पुञ्जाः स्वयमेवापीपचन्तेत्यर्थः, अत्र "एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये" (सि० ३–४–८६) इति सूत्रेणात्मनेपदम् । "भूषार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ" (सि० ३–४–९३) अनेन सूत्रेण एकधाताविति सूत्रबलात्प्राप्तस्य "स्वरग्रहदृश०" (सि० ३–४–६९) इत्यादिना सूत्रेणाऽऽगतस्य ञिट्प्रत्ययस्य निषेधः, ततो "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि ङः" (सि० ३–४–५८) इति ङः, ततो द्विर्वचनादिना सिद्धं रूपम् । धान्यपुञ्ज आपहणी पचवाणो इति लोकप्रसिद्धोऽर्थः । किंरूपयोस्तातयोः ? प्रीतिभाजोः । किंविशिष्टेषु सौधेषु ? 'अन्धङ्करण०' अनन्धोऽन्धः क्रियते यैस्तानि अन्धङ्करणानि "कृगः खनट् करणे" (सि० ५–१–१२९) इति खनट् प्रत्ययः, एवंविधानि यानि तिमिराणि तेषामरातयः शत्रवो यानि रत्नानि तेषामजिराणि अङ्गणानि येषु । अत्र तातयोरिति द्विवचनेऽपि सौधेष्विति बहुत्व-

मेकैकस्य बहुषु आवासेषु अतिविस्तीर्णरत्नाङ्गणेषु अन्नराशयः पर्वतप्रायाः पक्वा इति ज्ञापनार्थम् । अत्रोदात्तजात्यनुप्रासाद्याः ॥ २९ ॥

खाद्यस्वाद्याभरणसिचयाद्यर्चया बन्धुवर्गो
नानादेशागतनरपतीनेकतः सच्चकार ।
वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रा-
ऽलङ्कारैस्तं प्रभुमपि च मामन्यतोऽलश्चकार ॥ ३० ॥

बन्धुवर्गः 'एकतः' एकस्मिन् पार्श्वे 'खाद्यस्वाद्याभरणसिचयाद्यर्चया नानादेशागतनरपतीन् सच्चकार' सत्करोति स्म, खाद्यानि मोदकादीनि, स्वाद्यानि लवङ्गैलापत्रपूगादीनि, आभरणानि मुक्तादीनि, सिचयाः चीनांशुकाद्याः, आदिग्रहणात् पुष्पादिपरिग्रहः तैः कृत्वाऽर्चया–पूजया । 'अन्यतः' अन्यस्मिन् पार्श्वे 'वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रालङ्कारैस्तं प्रभुं मामपि चालञ्चकार' वानाऊवना इति लोके रूढौ वर्णोद्वर्णौ, स्नपनं स्नानविधापनम्, वसनानि वस्त्राणि, आलेपनं चन्दनचर्चनम्, आपीडो मुकुटः, पुण्ड्रं तिलकम्, अलङ्काराः केयूरहारमुद्रादिकाः । एकस्मिन् पार्श्वे एकतः, अन्यस्मिन् पार्श्वे अन्यतः "आद्यादिभ्यः" (सि० ७–२–८४) तस् प्रत्ययः । अत्र बन्धुवर्गस्य राजसमूहसत्कारवरवधूशृङ्गारवैयग्र्येण विवाहस्य गौरवं प्रतिपादितम् । अत्रातिशयोक्तिदीपकानुप्रासाः ॥ ३० ॥

रोदोरन्ध्रे सुरनरवराहूतिहेतोरिवोच्चै-
रातोद्यौघध्वनिभिरभितः पूरिते भूरितेजाः ।
अध्यारोहन्मदकलमिभं विश्वभर्तौपवाह्यं
गत्यैवाधःकृतिमतितरां प्रापिपत् पौनरुक्त्यम् ॥ ३१ ॥

('भूरितेजाः' प्रभूतदीप्तिमान्) 'विश्वभर्ता' श्रीनेमिनाथ औपवाह्यं इभं अध्यारोहन् सन् 'अतितराम्' अत्यर्थं पौनरुक्त्यं 'प्रापिपत्' प्रापितवान्, राजा यस्योपरि चटति स पट्टगजेन्द्र औपवाह्यः कथ्यते यतः–"राजवाह्यस्तूपवाह्यः" (अभिधान० ४–२८८) इति वचनात् । किंविशिष्टम्? मदकलं स्पष्टम्, पुनः कथंभूतम्?

गत्यैवाधःकृतम्, कोऽर्थः? अग्रेऽपि भगवता गजो गत्याऽधःकृतः गजपतेरप्यधिकलीलागतित्वात्, पुनरपि तं गजेन्द्रमारोहणेनाधःकुर्वन् अत्यर्थं पौनरुक्त्यं प्रापितवानित्यर्थः। क्व सति? 'आतोद्यौघध्वनिभिः' वादित्रसमूहनादैः 'उच्चैः' अतिशयतो रोदोरन्ध्रे 'अभितः' समन्तात् पूरिते सति रोदसूशब्देनाकाशपृथिव्यौ कथ्येते तयोरन्तराले विवरे। किमर्थम्? उत्प्रेक्ष्यते—'सुरनरवराहूतिहेतोरिव' आकाशे सुरा भुवि नरवरास्तेषामाहूतिः आकारणं तस्य हेतोरिव, ते ध्वनयो रोदोरन्ध्रं स्वभावान्न पूरयन्तः सन्ति किन्तु सुरनरवराणामाकारणार्थमिति, विवाहे हि सर्वेषां शिष्टानामाकारणं क्रियत इति। प्रापिपदिति "आप्लृंट् व्याप्तौ" आप् प्रपूर्वः, प्राप्नुवन्तं प्रायुङ्क्त णिग्, अद्यतनी-दिप्रत्ययः "णिश्रिद्रुस्रुकम कर्तरिङः" (सि० ३-४-५८) ङप्रत्ययः, "स्वरादेर्द्वितीयः" (सि० ४-१-४) इति पिद्विर्वचनम्, "णेरनिटि" (सि० ४-३-८३) णिग्लोपः। अत्रोत्प्रेक्षापर्यायोक्त्यतिशयानुप्रासाः॥ ३१॥

सर्वैः प्राप्तेऽप्यधिकमुचिते साधु संभावितो यत्
पूर्वो भागो भुवनविभुना स्कन्धमध्यास्य नेयम्।
अद्याप्येनं ननु गजपतेः प्राभवं विप्रकारं
स्मारं स्मारं भजति कृशतां साऽपरा खिद्यमाना॥ ३२॥

सा 'गजपतेः' गजेन्द्रस्य अपरा खिद्यमाना सती कृशतां भजति, अपराशब्देन गजस्य पश्चिमो भागः कथ्यते, स स्वभावेन तलिनो भवति, तत्र कविरुत्प्रेक्षामाह—नन्विति उत्प्रेक्ष्यते—'अद्यापि' अद्य यावत् एनं 'प्राभवं' प्रभोः श्रीनेमिनाथस्य सम्बन्धिनं 'विप्रकारं' पराभवं 'स्मारं स्मारं' आभीक्ष्ण्येन स्मृत्वा, एनं कम्? यत् 'भुवनविभुना' विश्वस्वामिना श्रीनेमिनाथेन 'स्कन्धमध्यास्य' गजेन्द्रस्य स्कन्धमारुह्य पूर्वो भागः 'साधु' भव्यं यथा भवति 'सम्भावितः' सम्मानितः, 'इयं' अपरा न सम्भाविता, क्व सति? पाणिग्रहणोत्सवे 'सर्वैः' इति सामान्योक्त्या सम्बन्धिबन्धु-

मित्रपरिजनप्रकृतिजनैः 'उचिते' योग्ये अधिकमपि प्राप्ते सति, अयमर्थः—पाणिग्रहणप्रस्तावे सर्वस्यापि सारा क्रियते, यस्य यत् आभरणपट्टदुकूलशृङ्गारादि उचितं स्यात्तद्दीयते तदा प्रभोः परिणयावसरे सर्वैर्योग्यादधिकमपि शृङ्गारादिकं प्राप्तम्, गजेन्द्रस्यारोहणे पूर्वभागः कुम्भस्थलादिकः सम्मुखतया सम्भाव्यते स्म पश्चिमभागस्तु पृष्टोऽपि न, अतोऽद्य यावद् गजेन्द्रस्य पूर्वभागः प्रभुणा पाणिग्रहणोत्सवे सम्भावितत्वात्तुष्ट इवोन्नतोऽभूत्, पश्चिमभागस्तु तदा न सम्भावित इति पराभवस्मरणादिव अद्य यावत् कृशो भवतीति। आभीक्ष्ण्येन स्मरणं पूर्वं स्मारं स्मारम्, प्राक्काले "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) इति णम्। अत्रोत्प्रेक्षापह्नुत्यनुप्रासाः ॥ ३२ ॥

शीतज्योतिः ससकलकलः पुण्डरीकापदेशात्
गावो वालव्यजननिभतश्चन्द्रिका चेलदम्भात्।
तारा मुक्तामणिगणमिषान्निर्निमेषं पिबद्भि-
र्देवं सेवास्थित इति तदाऽतर्कि नैशः प्रदेशः ॥ ३३ ॥

'तदा' तस्मिन् प्रस्तावे जनैः 'नैशः प्रदेशः' रात्रिसम्बन्धी प्रदेशः 'इति' अमुना प्रकारेण 'सेवास्थितः अतर्कि' विचारितः सेवार्थे(र्थां) स्थितः सेवास्थितः, अधिकारात्प्रभोरित्यर्थः। किंविशिष्टैर्जनैः ? 'देवं' श्रीनेमिनाथं 'निर्निमेषं' निमेषरहितं यथा भवति 'पिबद्भिः' अत्यादरेण दर्शनं पानमुच्यतेऽतः पश्यद्भिरित्यर्थः। इतीति किम् ? 'पुण्डरीकापदेशात् शीतज्योतिः' चन्द्रः पुण्डरीकं छत्रं तस्यापदेशात् मिषात्, किंविशिष्टः शीतज्योतिः ? 'ससकलकलः' सकलाभिः कलाभिः सह वर्तत इति ससकलकलः, 'वालव्यजननिभतो गावः' वालव्यजनानि चामराणि तेषां निभतः कपटात् गावः किरणानि, 'चेलदम्भात्' अत्युज्ज्वलविभ्राजमानवस्त्रदम्भात् 'चन्द्रिका' चन्द्रज्योत्स्ना, 'मुक्तामणिगणमिषात् तारा' छत्रे आभरणेषु व्यक्ता मौक्तिकपङ्क्तयः ताराः, एवं चन्द्रचन्द्रकिरणचन्द्रज्योत्स्नातारकाभिः कृत्वा

रात्रिसम्बन्धी प्रदेशः किं दिवाऽपि स्वामिनं सेवितुमागतः? इति। निशाया अयं नैशः "निशाप्रदोषात्" (सि० ६-३-८३)इत्यण्। अत्रापह्नुत्यतिशयोक्त्यनुप्रासाः ॥ ३३ ॥

अग्रेऽभूवन् करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीरा
नानायानाधिगतगतयो वीरपत्न्यश्च पश्चात्।
उत्कोशासिप्रहरणभृतः पत्तयः पार्श्वदेशे
प्रत्यावृत्तेः प्रकृतिविरतस्यास्य भीत्येव मार्गात् ॥ ३४ ॥

'करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीराः' अग्रेऽभूवन् करिणो गजाः, हरयः तुरङ्गाः, रथाः प्रसिद्धाः, तानारूढा वृष्णयो यादवास्तेषां प्रवीराः प्रकृष्टवीराः, 'च' अन्यत् वीरपत्न्यः पश्चादभूवन्, किंरूपाः? 'नानायानाधिगतगतयः' नानायानैः रथसुखासनादिभिः कृत्वाऽधिगता प्राप्ता गतिर्याभिस्ताः, 'पत्तयः' पदातिकाः पार्श्वदेशेऽभूवन्, कथम्भूताः? 'उत्कोशासिप्रहरणभृतः' कोशः खड्गपिधानकं कोशादुत्क्रान्तानि पिधानवर्जितानि उत्कोशानि असिप्रहरणानि खड्गायुधानि बिभ्रतीति उत्कोशासिप्रहरणभृतः। उत्प्रेक्ष्यते—अस्य मार्गात् प्रत्यावृत्तिः पश्चाद्वलनं तस्याः 'भीत्या' भयेनेव, किंविशिष्टस्यास्य? 'प्रकृतिविरतस्य' स्वभावेन विरक्तस्य, अयमर्थः—अयं भगवान् स्वभावाद्विरक्तो रक्षेद्वलित्वा यातीति सर्वतो जनैर्वेष्टितः। अत्रोत्प्रेक्षानुप्रासातिशयोक्तयः ॥ ३४ ॥

मामुद्वोढुं स्मृतिमुपयतः पत्युराद्योतनोत्कै-
रातोद्यौघध्वनिनिशमनादेव वाजं भजद्भिः।
पौरैर्गौराननरुचिभरैर्हूतिकर्मान्तरेणै-
तव्यं नैवाप्यधिकरुचिकैरित्युपादिश्यतेव ॥ ३५ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'पौरैः' नागरैः इति परस्परं 'उपादिश्यतेव' अकथ्यत इव, इतीति किम्? अस्माभिरधिकरुचिकैरपि 'हूतिकर्मान्तरेण' आकारणकर्म विना नैव 'एतव्यं' गन्तव्यम्, अधिका रुचिः इच्छा येषां तेऽधिकरुचिकाः तैः, पुनः कथम्भूतैः? 'गौराननरुचिभरैः'

गौर उज्ज्वल आननस्य मुखस्य रुचिभरः श्रीभरो येषां ते गौराननरुचिभराः तैः, यथाऽन्यत्रापि विवाहादौ बाढमभिलाषयुक्तैरपि आकारणं विना न गम्यते । पुनः किंविशिष्टैः ? आतोद्यौघध्वनिनिशमनादेव 'वाजं' वेगं भजद्भिः, आतोद्यानां वादित्राणामोघः समूहः तस्य ध्वनेः शब्दस्य निशमनम् आकर्णनं तस्मात्, (पुनः) किंविशिष्टैः ? 'पत्युः' स्वामिन आद्योतनं दर्शनं तस्योत्का उत्कण्ठितास्तैरपि । किंविशिष्टस्य पत्युः? मां 'उद्वोढुं' परिणेतुं 'सृतिं' मार्गं 'उपयतः' आगच्छतः, कोऽर्थः ? लोकाः पतिं द्रष्टुं प्रकाममुत्कण्ठिता अपि वादित्राणि श्रुत्वैव वेगेन चलिताः, न त्वन्यथा । यद्वादित्रश्रवणं तदेव हूतिकर्म आकारणं जातमित्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षाहेत्वनुप्रासाः ॥ ३५ ॥

यावन्नान्दीरवमशृणवं स्नातभुक्तानुलिप्ता
क्लृप्ताकल्पा स्तनितमिव ते केकिनी प्रोच्चकर्णम् ।
तावद्भ्रातर्विधुमिव विभुं तं चकोरी दिदृक्षु-
श्चक्षुःक्षेपं सुमशरशराभ्याहतेवाकुलाऽऽसम् ॥ ३६ ॥

हे जलधर! अहं यावत् 'नान्दीरवं' द्वादशविधमङ्गलतूर्यनिर्घोषो नान्दीत्युच्यते तस्या रवं शब्दं प्रोच्चकर्णं यथा भवति प्रकर्षेण उच्चैः कर्णौ यत्र श्रवणे तत् 'अशृणवं' शृणोमि स्म, किंविशिष्टाऽहम्? 'स्नातभुक्तानुलिप्ता' पूर्वं स्नाता पश्चाद्भुक्ता ततोऽनुलिप्ता कृतविलेपना, पुनः किंरूपा? 'क्लृप्ताकल्पा' क्लृप्तो रचित आकल्पः पाणिग्रहणयोग्यवेषो यया सा । केव? 'केकिनीव' यथा केकिनी प्रोच्चकर्णं यथा भवति 'ते' तव 'स्तनितं' गर्जितं शृणोति, हे भ्रातः! तावदहं तं विभुं 'दिदृक्षुः' द्रष्टुमिच्छती 'चक्षुःक्षेपं' चक्षुः क्षिप्त्वा आकुलाऽऽसम् । उत्प्रेक्ष्यते—'सुमशरशराभ्याहता इव' सुमशरः कामस्तस्य शरैः बाणैरभ्याहता पीडिता इव, केव? चकोरीव, यथा चकोरी विधुं दिदृक्षतेऽतो नान्दीरवं श्रुत्वा तं द्रष्टुमाकुला जातेत्यर्थः ।

चक्षुःक्षेपणं पूर्वं चक्षुःक्षेपम् "स्वाङ्गेनाध्रुवेण" (सि० ५–४–७९) इति णम्प्रत्ययः । अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ३६ ॥

पेञ्जूषेषु स्वविषयसुखं भेजिवत्सूत्सुकाया-
मायान्त्यस्मै सखि! सुखयितुं किं न चक्षूंषि युक्तम्? ।
इत्यालीनां सुबहु वचनं मन्यमाना विमानं
मत्तालम्बं तदनुचरिताऽशिश्रियं देवतेव ॥ ३७ ॥

अहं 'तदनुचरिता' तासां सखीनामनुचरिता अनुगामिनी सती 'मत्तालम्बं' गवाक्षम् अशिश्रियम्, किं कुर्वाणा? इति 'आलीनां' सखीनां वचनं 'सुबहु' सुष्ठु अतिशयेन बहु घनं मन्यमाना । इतीति किम्? हे सखि! 'चक्षूंषि' नेत्राणि 'सुखयितुं' सुखं प्रापयितुं किं न युक्तम्? अपि तु युक्तम्, अत्र पेञ्जूषेषु चक्षूंपि इत्यत्र बहु-वचनं सखीबहुत्वापेक्षम्, किंविशिष्टानि चक्षूंषि? 'अस्मै' स्वविषय-सुखाय दर्शनलक्षणाय उत्सुकायां 'आयान्ति' प्राप्नुवन्ति, अनुत्सुक उत्सुको भवति "च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः" (सि० ३–४–२९) क्यङ्प्रत्ययः, "दीर्घश्च्वीयङ्यक्क्येपु०" (सि० ४–३–१०८) दीर्घः आ, उत्सुकायनं उत्सुकाया "शंसिप्रत्ययात्" (सि० ५–३–१०५) अङ्प्रत्ययः, "आत्" (सि० २–४–१८) आप्रत्ययः, अत उत्सुकायाम् औत्सुक्यमित्यर्थः । केषु सत्सु? 'पेञ्जूषेषु' कर्णेषु 'स्वविषयसुखं' स्वम् आत्मीयं विषयसुखं श्रवणसुखं 'भेजिवत्सु' प्राप्तेषु सत्सु । अन्यत्रापि पङ्क्तावुपविष्टायामेकेषु मिष्टान्नं स्वादयत्सु अन्ये बुभुक्षिता मिष्टान्नभोजनाय व्याकुला भवन्ति, एवं चक्षुषी कर्णौ च पङ्क्तावुपविष्टौ स्तः, तेपु वादित्रादिमधुरध्वनिश्रवण-रूपस्वविषयसुखभोगात् कर्णेपु तुष्टेषु चक्षूंषि भगवद्दर्शनरूपस्वविषय-सुखं भोक्तुमत्याकुलानि जातानीत्यर्थः । केव? 'देवतेव' यथा देवता विमानं श्रयति । अत्र हेत्वनुप्रासोपमाः ॥ ३७ ॥

श्रेयःसारागममुपयमाद्यङ्गमग्र्यासनस्थं
नासान्यस्तस्तिमितनयनं पुण्यनेपथ्ययोगम् ।

शुक्लध्यानोपगतमिव सच्चन्दनस्याङ्गरागै-
स्तत्राद्राक्षं जगदिनमहं भोगिनं योगिनं वा ॥ ३८ ॥

हे मेघ! अहं तत्र 'जगदिनं' जगत्स्वामिनं 'अद्राक्षं' पश्यामि स्म, किंविशिष्टम्? योगिनं 'वा' अथवा भोगिनम्, अलक्ष्यत्वादुभयावस्थे अपि भजन्तमिवेत्यर्थः। किंविशिष्टं जगदिनम्? 'श्रेयःसारागमं' पूर्वं भोगिपक्षः—श्रेयोभिः कल्याणैः सारः प्रधानः आगम आगमनं यस्य, पुनः कथंभूतम्? 'उपयमाद्यङ्गं' उपयमं पाणिग्रहणम् इत्यादीनि अङ्गानि भोगप्रकारा यस्य स तम्, अग्र्ये प्रधाने गजेन्द्ररूपे आसने तिष्ठतीति अग्र्यासनस्थम्, नासा नासिका तस्यां न्यस्ते स्तिमिते निश्चले नयने यस्य स तम्, पुण्यः पवित्रो नेपथ्यस्य वेषस्य योगो यस्य। योगिपक्षे—श्रेयो मोक्षस्तदेव सारं यस्य ईदृग् आगमः सिद्धान्तो यस्य, पुनः किंरूपम्? 'उपयमाद्यङ्गं' उप समीपे यमादीनि अष्टौ अङ्गानि यस्य, यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ ध्यान ६ धारणा ७ समाधि ८ रूपाणि अष्टौ योगाङ्गानि, अग्र्ये आसने पद्मासनादौ तिष्ठतीति। 'नासान्यस्तस्तिमितनयनं' स्पष्टम्। पुण्यं धर्म एव नेपथ्यस्य वेषस्य योगो यस्य। अथोत्प्रेक्षया द्वयोरपि साम्यमाह—सच्चन्दनस्य 'अङ्गरागैः' विलेपनैः शुक्लध्यानोपगतमिव, उपगतः संयुक्तः, चन्दनमेव शुक्लध्यानमित्यर्थः। अत्र श्लेषोत्प्रेक्षाऽनुप्रासाः ॥ ३८ ॥

मोहोदन्वान्मम निशमनं तस्य जैवातृकस्य
व्यातन्वत्याः कथमपि तथा तत्र चैधिष्ट पुष्टः।
कोऽयं काऽहं क्व किमु विदधामीति तद्वीचिमाला-
लोलच्चेताः क्षणमवजगे नो यथा जाड्यमाप्ता ॥ ३९ ॥

मम 'तत्र' गवाक्षे तस्य 'निशमनं' विलोकनं 'व्यातन्वत्याः' कुर्वत्याः 'मोहोदन्वान्' मोहसमुद्रः पुष्टः (कथमपि) तथा 'ऐधिष्ट' अवर्धिष्ट, किंविशिष्टस्य तस्य? 'जैवातृकस्य' दीर्घायुषः, अन्यस्यापि

'जैवातृकस्य' चन्द्रस्य दर्शनेन समुद्रो वर्धते, यथाऽहं क्षणम् इति 'न अवजगे' न ज्ञानवती, किंरूपा ? 'जाड्यं' जडभावं 'आप्ता' प्राप्ता, पुनः कथंभूता ? 'तद्वीचिमालालोलचेताः' तस्य मोहसमुद्रस्य वीचि-मालाभिः कल्लोलमालाभिः लोलत् चञ्चल इवाचरत् चेतः चित्तं यस्याः सा, इतीति किम् ? अयं कः अहं का ? अहं क्व किमु 'विदधामि' करोमि, अतो मम मोहसमुद्रकल्लोलचञ्चलीक्रियमाणचित्तायाः सर्वं विस्मृतमित्यर्थः । "गाङ् गतौ" अवपूर्वस्य परोक्षायाम् एप्रत्यये 'अवजगे'—रूपम् । अत्रानुप्रासश्लेषरूपकातिशयोक्तयः ॥ ३९ ॥

क्वायं देवस्त्रिभुवनपतिर्मर्त्यकीटः क्व चैषा
यद्यप्यार्षीन्निलयवलजं नो तथापि प्रतीये ।
इत्यूहे मे स्फुरदपि तदा लोचनं भानवीयं
भाग्याभावेऽमुकुलयदहो ! कामराजीवराजीः ॥ ४० ॥

हे मेघ ! 'मे' मम तदा भानवीयमपि लोचनं स्फुरत् भाग्याभावे सति 'अहो' इति आश्चर्ये 'कामराजीवराजीः' कामा मनोरथास्त एव राजीवानि कमलानि तेषां राजीः श्रेणीः 'अमुकुलयत्' सङ्कोच-यामास, भानवीयशब्देन दक्षिणं लोचनं कथ्यते, ततः स्त्रीणां दक्षिणलोचनस्फुरणमशुभहेतुः । अथ यद्भानोः श्रीसूर्यस्य संबन्धि लोचनं तत् कमलश्रेणीः कथं सङ्कोचयतीति विरोधः । क्व सति ? इति 'ऊहे' विचारे सति, इतीति किम् ? अयं त्रिभुवनपतिर्देवः क्व ?, 'च' अन्यत् 'एषा' अहं 'मर्त्यकीटः क्व' मर्त्येषु मनुष्येषु अप्रसिद्धतया कीटकल्पेत्यर्थः । यद्यप्येषः 'निलयवलजं' निलयस्य आवासस्य वलजं द्वारम् 'आर्षीत्' आगच्छत् तथापि 'नो प्रतीये' न प्रतीतिं प्राप्नोमि यदस्य पाणिग्रहणं मम भविष्यतीति विश्वासो न । प्रतीये इत्यत्र "ईङ्च् गतौ" धातोर्वर्तमाना—एप्रत्यये "दिवादेः श्यः" (सि० ३–४–७२) इति श्यप्रत्यये रूपम् । मुकुला इवाकरोत् अमुकुलयत् "णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु" (सि०

३–४–४२) णिच्प्रत्ययः, ह्यस्तनी–दिव्प्रत्यये रूपम् । मर्त्यकीट इति रूपकत्वान्न लिङ्गव्यत्ययः । अत्र विषमविरोधानुप्रासाः ॥४०॥

शान्तं पापं! क्षिपसिससिते क्षीरपूरेऽक्षखण्डान्
मङ्गल्यानामवसर इहामङ्गलं ते खलूक्त्वा ।
मामुद्वेगं सपदि दधतीमित्यवोचन् वयस्या
यावत्तावत्करुणमशृणोदेष रावं पशूनाम् ॥ ४१ ॥

हे मेघ! यावत् 'वयस्याः' सख्यो मामिति 'अवोचन्' अजल्पन् । किंरूपां माम्? 'सपदि' तत्कालं 'उद्वेगम्' उच्चाटं दधतीम् । इतीति किम्? हे सखि! 'पापं' दुरितं शान्तम्, त्वं 'ससिते' सितया शर्करया सहिते 'क्षीरपूरे' दुग्धपूरे 'अक्षखण्डान्' अक्षस्य बिभीतकस्य खण्डान् शकलान् क्षिपसि, अयं मङ्गल्यानां 'अवसरः' प्रस्तावः, 'ते' तव 'इह' प्रस्तावे 'अमङ्गलं' दुर्निमित्तसूचकम् उक्त्वा 'खलु' पूर्यते, एतावताऽस्मिन्नवसरे सविषादं वचो न वाच्यमिति भावः । तावत् 'एषः' भगवान् 'पशूनां' तिरश्चां 'करुणं' दीनं 'रावं' शब्दमशृणोत् । ते खलूक्त्वा अत्र "निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा" (सि० ५–४–४४) क्त्वाप्रत्ययः । अत्र विषमानुप्रासौ । यावत्सख्यो मधुरवचनैरुद्वेगं स्फेटयन्ति तावद्भविष्यन्महोद्वेगकारणमेव भगवता पशूनां करुणरावोऽश्रावीति "कर्तुः क्रियाफलावाप्ति–र्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ।" इति विषमविशेषः, पूर्वार्धेऽपि विषमः ॥ ४१ ॥

हेतुं तेषामवजिगमिषुः क्रन्दने सादिनाऽथो
नाथो नत्वा मुकुलितकरेणेति विज्ञप्यते स्म ।
एषां कीनैरिव जलनिधिर्नाथ! नादेयवाहैः
शूल्यैः शोभातिशयमयिता गौरवस्ते विवाहे ॥ ४२ ॥

'अथो' अनन्तरं 'सादिना' हस्तिपकेन नत्वा 'नाथः' स्वामी इति विज्ञप्यते स्म, किंविशिष्टो नाथः? 'तेषां' पशूनां 'क्रन्दने'

करुणशब्दे 'हेतुं' निमित्तं 'अवजिगमिषुः' ज्ञातुमिच्छुः, किंरूपेण सादिना? 'मुकुलितकरेण' योजितहस्तेन, हे नाथ! 'एषां' पशूनां 'कीनैः' मांसैः 'ते' तव विवाहे गौरवः 'शोभातिशयं' शोभाधिक्यं 'अयिता' प्राप्स्यति । किंरूपैः कीनैः? 'शूल्यैः' शूलाकृतैः, क इव? 'जलनिधिरिव' यथा जलनिधिः 'नादेयवाहैः' नदीसम्बन्धिप्रवाहैः शोभातिशयं प्राप्नोति । अत्र शूलया संस्कृतानि शूल्यानि "शूलोखाद्यः" (सि० ६–२–१४१) इति यप्रत्यये "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) इति आलोपे शूल्य इति रूपम् । नदीनामिमे नादेयाः "नद्यादेरेयण्" (सि० ६–३–२) इति एयण्प्रत्यये "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) ईलोपे नादेय इति रूपम् । अत्रानुप्रासोपमाद्याः ॥ ४२ ॥

मीलन्नेत्रद्वयमयमदःकृत्य कर्तास्म्यथैत-
न्निश्चित्यैवं समजमिभमानीनयत् सादिनैषाम् ।
श्रोतःसार्थं विविधगतिना चेतसा बन्धमोक्षा-
लङ्कर्मीणः सकलविषयग्राममात्मेव देवः ॥ ४३ ॥

हे जलधर! 'अयं देवः' श्रीनेमिनाथः 'सादिना' आधोरणेन 'इभं' गजेन्द्रं 'एषां' पशूनां 'समजं' वर्गं वाटकमिति यावत् आनीनयत् । किं कृत्वा? 'मीलन्नेत्रद्वयं' सङ्कुचन्नयनयुगलं यथा भवति एवं निश्चित्य, यदा विचारः स्वहृदि क्रियते तदाऽक्षिणी निमील्य एकाग्रीभूयते इति भावः । एवमिति किम्? अहं अदःकृत्य अथ एतत्कर्तास्मि, राजीमती हि मुखनयनभावैर्ध्यानस्य स्थूलतां वेत्ति न तु हृद्गतं भावम्, अतः पशून् मोचयित्वा दीक्षां लास्यामीति निश्चयं कृत्वेत्यर्थः । क इव? 'आत्मेव' यथा आत्मा 'चेतसा' मनसा 'श्रोतःसार्थं' श्रोतसां इन्द्रियाणां सार्थं समूहं 'सकलविषयग्रामं' समस्तग्राह्यशब्दादिपदार्थराशिं आनयति प्रापयति । अयमर्थः—यथाऽऽत्मा मनसा हेतुभूतेनेन्द्रियाणि स्वविषयान्

शब्दादीन् प्रापयति तथा देवोऽपि सादिना हेतुना इभं पशुवाटकमानयदिति । किंविशिष्टेन चेतसा? 'विविधगतिना' विविधा विचित्रा शब्दादिग्रहणार्थं गतिर्यस्य, सादिनाऽपि किंरूपेण? 'विविधगतिना' विविधा गतिः ज्ञानं गजशिक्षास्वामिचित्तानुवर्तनादिरूपा वा यस्य स तेन । किंविशिष्टो देवः? 'बन्धमोक्षालङ्कर्मीणः' बन्धेभ्यो मोक्षे मोचनेऽलङ्कर्मीणः कर्मक्षमः, आत्माऽपि कर्मणां बन्धे मोक्षे चालङ्कर्मीणः समर्थः । अदःकृत्य इति "अग्रहानुपदेशेऽन्तरदः" (सि० ३-१-५) इति गतिसंज्ञायां क्त्वो यप् । समजमिति "अज क्षपणे" संपूर्वः समजनं समजः "समुदोऽजः पशौ" (सि० ५-३-३०) इति अल्प्रत्ययः । नी द्विकर्मको धातुः । अत्रोदात्तोपमादयः ॥ ४३ ॥

दीनोत्पश्यान् पुरवनभश्चारिणश्चारबन्धं
　बद्धान् बन्धैर्गलचलनयोर्वेपिनो मृत्युभीत्या ।
प्रीतः पृथ्वीपतिरिव जवादेष जन्तून् समन्तू-
　नुन्मोच्य स्वं द्विरदमनयद्वेश्मनः सम्मुखत्वम् ॥ ४४ ॥

हे मेघ! 'एषः' भगवान् 'जवात्' वेगात् जन्तून् 'उन्मोच्य' छोटयित्वा स्वं 'द्विरदं' हस्तिनं वेश्मनः सम्मुखत्वमनयत् । किंरूपान् पशून्? दीनं यथा भवति उत् ऊर्ध्वं पश्यन्ति विलोकयन्तीति दीनोत्पश्यास्तान्,'पुरवनभश्चारिणः' पुरचारिणः छागाऽऽदयः वनचारिणो हरिणतित्तिरादयः आकाशचारिणः पक्षिणः, पुनः कथंभूतान्? गलचलनयोः 'चारबन्धं बद्धान्' चारे गुप्तिगृहे यथा बध्यते तथा बन्धैः रज्ज्वादिभिर्बद्धान्, मृत्युभीत्या 'वेपिनः' कम्पनशीलान् । क इव? 'पृथ्वीपतिरिव' यथा पृथ्वीपतिः 'प्रीतः' तुष्टः सन् 'समन्तून्' सापराधान् मन्त्र्यादीनुन्मोचयति । उत् ऊर्ध्वं पश्यन्तीति "घ्राध्मापाट्धेट्दृशः शः" (सि० ५-१-५८) शप्रत्यये "श्रौति०" (सि० ४-२-१०८) इति पश्यरूपम् । चारे

बध्यते इति चारबन्धम् "आधारात्" (सि० ५-४-६८) इति सूत्रेण णम्प्रत्ययः । अत्र जातिपरिकरोपमाद्याः ॥ ४४ ॥

यानत्याजं सपदि पितरावग्रतोऽथास्य भूत्वा
वर्षा बाष्पप्लवविगलनात् पौनरुक्त्यं नयन्तौ ।
इत्यूचाते चिरमतमहाज्जात ! कस्मादकस्मा-
दस्मादश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्त्वं निवृत्तः ? ॥ ४५ ॥

'अथ' अनन्तरं पितरौ 'सपदि' तत्कालं 'यानत्याजं' यानं त्यक्त्वाऽस्य अग्रतो भूत्वा इति 'ऊचाते' अवदताम् । किंकुर्वन्तौ ? बाष्पप्लवविगलनात् वर्षाः 'पौनरुक्त्यं' पुनरुक्तभावं 'नयन्तौ' प्रापयन्तौ, बाष्पाणि अश्रूणि तेषां प्लवः पूरः तस्य विगलनं क्षरणं तस्मात्, अग्रेऽपि वर्षासु घना वर्षन्तः सन्ति तदा पितरावपि अश्रुप्रवाहैर्वर्षितुं लग्नौ इति वर्षाकालस्य पौनरुक्त्यम् । इतीति किम् ? 'हे जात !' हे पुत्र ! त्वं कस्मात् हेतोः 'अकस्मात्' सहसैव अस्मात् 'चिरमतमहात्' चिराभीष्टपाणिग्रहणमहोत्सवात् निवृत्तः ?, किंवत् ? 'अश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्' अश्मसु पाषाणेषु आस्फलितः प्रतिहतः तटिनीपूरो नदीपूरस्तद्वत् । अत्र यानं त्यक्त्वा यानत्याजं "द्वितीयया" (सि० ५-४-७८) इति सूत्रेण णम् । अत्रातिशयोक्त्यनुप्रासोपमाः ॥ ४५ ॥

तौ खिन्दानौ यदुपरिवृढो वारयित्वेत्यजल्पद्
बन्धो ! सिन्धो ! विनयपयसामाश्रितान् प्राक् प्रसत्तिम् ।
प्रापय्याथो दवयसि कुतः शुक्छिखादह्यमानान्
नासंभाव्यं किमपि यदि वा ब्रह्मपर्यायसक्ते ॥ ४६ ॥

'यदुपरिवृढः' श्रीकृष्णः 'तौ' प्रभोः पितरौ 'खिन्दानौ' खेदं धरन्तौ वारयित्वा इति अजल्पत्—हे बन्धो ! हे विनयपयसां 'सिन्धो' ! समुद्र ! त्वं आश्रितान् 'प्राक्' पूर्वं 'प्रसत्तिं' प्रसादं 'प्रापय्य' लम्भयित्वा 'अथो' अनन्तरं कुतः कारणात् 'दवयसि'

परितापयसि ? "दूङ्च् परितापे" इति दू, दवनं दवः, "युवर्ण-वृदवशरणगमृद्ग्रहः" (सि० ५-३-२८) अल्प्रत्ययः, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४-३-१) गुणः, दवं करोषि दवयसि "णिज् बहुलं०" (सि० ३-४-४२) णिचा सिप्रत्यये रूपम् । किंविशिष्टान् आश्रितान् ? 'शुक्छिखादह्यमानान्' शुक् शोकः स एव शिखा ज्वाला तया दह्यमानान् ज्वाल्यमानान् । 'यदि वा' अथवा ब्रह्मपर्यायसक्ते पुरुषे एतत् किम् (किमपि न) असंभाव्यम्, ब्रह्म ब्रह्मचर्यं तस्य पर्यायः परिणामः तत्र सक्ते, अथवा ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य पर्यायो वाडवस्तत्र सक्ते, यद्यपि ब्रह्मपर्याया द्विजाद्या बह्वोऽपि सन्ति तथाऽप्यत्र सिन्धुसाधर्म्याद्दहनाधिकाराच्च वाडवो लभ्यते, अत्रापि सिन्धौ लोकरूढ्या वाडवो ज्वलन् वर्ण्यते, ब्रह्म-शब्देनापि ब्राह्मणः कथ्यते, यतः "सूर्यत्रावाक् मागर्वीरश्वमेधिन् मक्रुदहमिति ब्रह्महन् मा विषादी" इत्यादि, "ब्रह्मस्त्रीभ्रूणगोघात०" इत्यादि योगशास्त्रादिप्रसिद्धेः । अत्र विरोधसमसमासोक्तिरूपकानु-प्रासाः । "नासं०" इत्यादि समम् ॥ ४६ ॥

कारुण्यौकश्चरिषु विघृणो बन्धुतायां सुतृष्णक्
मुक्तौ मूर्त्तिद्विषि कुलकनीस्वीकृतौ वीततृष्णः ।
कौलीनाप्तेर्दरविरहितः संसृतेः कान्दिशीकः
प्रारब्धार्थांस्त्यजसि भजसेऽप्रस्तुतांस्तन्नमस्ते ॥ ४७ ॥

हे बन्धो ! 'तत्' तस्मात्कारणात् 'ते' तुभ्यं नमोऽस्तु, अयं नमस्कारो निन्दास्तुतिरूपः । यत् त्वं 'चरिषु' तिर्यक्षु 'कारुण्यौकः' कारुण्यस्य करुणाया ओकः स्थानम्, 'बन्धुतायां' बन्धुसमूहे 'विघृणः' निर्दयः, मुक्तौ 'सुतृष्णक्' सुष्ठु अतिशयेन तृष्णक् लुब्धः, किंरूपायां मुक्तौ ? 'मूर्त्तिद्विषि' मूर्तिं शरीरं द्वेष्टि न सहते शरीरक्षये मुक्तिभावात्, अन्या या स्त्री भर्तुः शरीरद्वेषिणि विष-कन्यारूपा साऽधमा । कुलकनी कुलकन्या तस्याः स्वीकृतौ अङ्गी-

कारे 'वीततृष्णः' निःस्पृहः, कुलकनीति कथनेन या उत्तमस्त्रीत्वात् मूर्त्तेः सुखकारिणीति ज्ञापितम् । 'कौलीनाप्तेः' परापवादः कौलीनं तस्याप्तेः प्राप्तेः 'दरविरहितः' दरेण भयेन विरहितः अङ्गीकृत-विवाहत्यागेऽत्रापवादान्न बिभेषि । 'संसृतेः' संसारात् 'कान्दिशीकः' भीरुः । 'प्रारब्धार्थान्' विवाहमुख्यान् त्यजसि, 'अप्रस्तुतान्' अप्रारब्धान् वैराग्यमुख्यान् भजसे । अन्यो विवेकवान् पूर्वं प्रारब्धं कार्यं समाप्य पश्चादन्यत् कार्यान्तरं प्रारभते । बन्धूनां समूहो बन्धुता "ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्" (सि० ६-२-२८) तल्प्रत्ययः, त, "आत्" (सि० २-४-१८) आप्प्रत्ययः । तृष्णगिति "ञितृषच् पिपासायां" तृष्यतीत्येवंशीलः "तृषिधृषि-स्वपो नजिङ्" (सि० ५-२-८०) नज्प्रत्ययः, नस्य णत्वम् । अत्र विरोधरूपकसमुच्चयपर्यायोक्तव्याजस्तुत्यनुप्रासाः । सर्वेणा-प्यर्थेन भगवतो वैराग्यमेव वर्णितमिति पर्यायोक्तम् ॥ ४७ ॥

नर्तेऽर्तीनां नियतमवरावावरीमां तपस्यां
यस्योदर्कः सततसुखकृत्कृत्यमर्घ्यं सतां तत् ।
दामत्कर्मप्रसितभविनो मोचयिष्ये चरीन् वा
नेमिः प्रत्यादिशदिति हरिं भूरि निर्बन्धयन्तम् ॥४८॥

नेमिः 'हरिं' श्रीकृष्णं 'इति प्रत्यादिशत्' इत्युक्त्या निषिद्धवान् । किंरूपं हरिम्? 'भूरि' अत्यर्थं 'निर्बन्धयन्तं' आग्रहं कुर्वन्तम् । इतीति किम्? हे हरे! इमां 'तपस्यां' दीक्षां 'ऋते' विना 'अवरा' काऽपि स्त्री ('नियतं' निश्चितम्) 'अर्तीनां' बाधानां 'न अवावरी' न अपनेत्री स्फेटिकेति यावत् । 'सतां' साधूनां तत् 'कृत्यं' कार्यं अर्घ्यं श्लाघ्यम्, यस्य उदर्कः 'सततसुखकृत्' निरन्तरसुखकारी स्यात्, "उदर्कः तद्भवं फलम्" (अभि० चिं० २-७६) उत्तरकालोद्भवं फलमुदर्कः कथ्यते । अहं दाम बन्धनं तदिवाचरन्ति दामन्ति यानि कर्माणि तैः प्रसिता बद्धा ये भविनः प्राणिनस्तान् 'मोचयिष्ये' कर्म-बन्धनेभ्यश्छोटयिष्यामीत्यर्थः । कानिव? 'वा' इवार्थे, 'चरीन् वा'

चरयः तिर्यञ्चः तानिव, यथा तिर्यञ्चो बन्धनान्मोचिताः । 'नर्तेऽर्तीनां' न ऋते अर्तीनाम् इति पदानि । तपस्यामित्यत्र "ऋते द्वितीया च" (सि० २-२-११४) इति ऋतेयोगे द्वितीया । अवावरी "ओणृ अपनयने" इति ओण् धातुः, ओणतीति "मन्वन्क्वनिप्विच् क्वचित्" (सि० ५-१-१४७) क्वन्, "अहन्पञ्चमस्य क्विक्ङिति" (सि० ४-१-१०७) णकार आकार "ओदौतोऽवाव्" (सि० १-२-२४) इति अव् "लोकात्" (सि० १-१-३) ततोऽवावन् इति सिद्धम्, "णस्वराघोषाद्वनो रश्च" (सि० २-४-४) ङीप्रत्ययः, नकारस्य रकारो "लोकात्" (सि० १-१-३) इति अवावरी सिद्धम्, प्रत्ययः सि, "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि० १-४-४५) सिलोपः । दामेवाचरन्ति "कर्तुः क्विप् गर्भक्लीबहोडात्तु ङित्" (सि० ३-४-२५) क्विप्, "नाम्नो नोऽनह्नः" (सि० २-१-९१) नलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १-१-३७) दामन्तीति वर्तमाना—शतृप्रत्ययः । अत्रोपमारूपकहेत्वलङ्काराः॥४८॥

तस्मिन्नेवं व्यवसितवति प्रश्लथप्रेमपाशा
नाशाश्वासच्छलपरिगलज्जीविता यादवौघाः ।
सोरस्ताडं सुगुरु रुरुदू रोदसी रोदयन्तः
प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषान्मुष्टसर्वस्ववत्ते ॥ ४९ ॥

ते यादवौघाः 'सोरस्ताडं' यथा भवति उरसस्ताडनं कुट्टनं उरस्ताडः, सह उरस्ताडेन वर्तते इति सोरस्ताडम्, 'सुगुरु' अत्यर्थं यथा भवति 'रुरुदुः' रुदितवन्तः । क सति? 'तस्मिन्' भगवति एवं 'व्यवसितवति' निश्चितवति सति यन्मया व्रतमेव ग्रहीतव्यम् । किंविशिष्टा यादवौघाः? 'प्रश्लथप्रेमपाशाः' प्रश्लथः शिथिलीभूतः प्रेमपाशः स्नेहबन्धनं येषाम्, पुनः कथंभूताः? 'नाशा०' नाशा नासिका तस्याः श्वासस्तस्य च्छलेन परिगलत् च्यवमानं जीवितं जीवितव्यं येषाम् । किं कुर्वन्तः? 'प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषात् रोदसी'

रोदयन्तः, प्रत्युत्पन्नः समुत्पन्नः प्रतिरवः प्रतिशब्दः तस्य मिषात् रोदसी आकाशपृथिव्यौ । किंवत्? 'मुष्टसर्वस्ववत्' यथा मुष्टसर्वस्वा रुदन्ति । अत्र जात्यपह्नुत्युपमानुप्रासाः ॥ ४९ ॥

तेषामेव प्ररुदितवतां किङ्करन्नाकिचक्रो-
पोपानीतं विदधदभितोऽप्यर्थिसादर्थसार्थम् ।
प्रातः प्रातः स्वभवनगतो डिण्डिमोद्घोषपूर्वं
प्राक्रंस्तासौ वितरणमथो वार्षिकं हर्षधाम ॥ ५० ॥

'अथो' अनन्तरं 'असौ' भगवान् प्रातः प्रातः स्वभवनगतो 'डिण्डिमोद्घोषपूर्वं' डिण्डिमः पटहस्तस्य उद्घोषपूर्वकं 'वार्षिकं' सांवत्सरिकं 'वितरणं' दानं 'प्राक्रंस्त' प्रारब्धवान् । केषां किंभूतानाम्? 'तेषां' यादवानां 'प्ररुदितवतामेव' रोदितुं प्रारब्धानामेव । किं कुर्वन्? 'अभितोऽपि' समन्ततोऽपि 'अर्थसार्थं' द्रव्यसञ्चयं 'अर्थिसात्' याचकायत्तं विदधत् । किंरूपमर्थसार्थम्? 'किङ्करन्नाकिचक्रोपोपानीतं' किङ्करता किङ्करवदाचरता नाकिचक्रेण देववृन्देन उप समीपे उपानीतं ढौकितम् । किंरूपं वितरणम्? 'हर्षधाम' स्पष्टम् । तेषामित्यत्र "षष्ठी वाऽनादरे" (सि० २–२–१०८) इत्यत्र (इति) षष्ठी, यथा रुदतो लोकस्य रुदति वा लोके प्राव्राजीत् । प्ररुदितवतामित्यत्र प्र–उपसर्गः प्रारम्भे "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः" (सि० ५–१–११) इत्यनेन कर्तरि क्तवत्प्रत्ययः । किङ्कर इवाचरतीति "कर्तुः क्विप्०" (सि० ३–४–२५) इति क्विप्, "अन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) क्विप्लोपः, किङ्करतीति वर्तमाने "शत्रानशा०" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्यये किङ्करदिति सिद्धम्, किङ्करच्च तन्नाकिचक्रं च किङ्करन्नाकिचक्रं तेन । अर्थिषु आयत्तमर्थिसात् "तत्राधीने" (सि० ७–२–१३२) इति सात्प्रत्ययः । प्राक्रंस्तेति "क्रमू पादविक्षेपे" प्रपूर्वः, "प्रोपादारम्भे"

(सि० ३–३–५१) इत्यात्मनेपदम्, अद्यतनी तप्रत्यये सिचि "क्रमः" (सि० ४–४–५३) इति इट्‌निषेधः । वर्षे देयं वार्षिकं "काले कार्ये च भववत्" (सि० ५–४–९८) इकण्प्रत्ययः, वृद्धिः । अत्र समोदात्तानुप्रासाः ॥ ५० ॥

प्रत्यावृत्ते परिणयभुवः प्राणितेशे निराशा
शम्पापातोपमिति पपतोत्पीडिता तत्प्रवृत्त्या ।
पृथ्वीपीठप्रतिहततमोन्मूलिताधारसाला
वल्लीव द्राक् सकलविगलद्भूषणालिप्रसूना ॥ ५१ ॥

हे मेघ! अहं निराशा सती शम्पापातोपमिति यथा भवति 'पपत' पतिता, शम्पा विद्युत् तस्याः पातः स च उपमितिः उपमानं यथा भवति, यथा विद्युत् पतति तथा पपातेत्यर्थः । क सति ? 'प्राणितेशे' जीवितव्यस्वामिनि श्रीनेमिनि 'परिणयभुवः' पाणिग्रहण-भूमिकायाः 'प्रत्यावृत्ते' पश्चाद्वलिते सति । किंरूपा ? 'तत्प्रवृत्त्या' सा वलनरूपा प्रवृत्तिः वार्ता तया 'उत्पीडिता' प्राबल्येन पीडिता । किंरू-पाऽहम् ? 'द्राक्' शीघ्रं वल्लीव 'सकलविगलद्भूषणालिप्रसूना' सकला विगलन्ती पतन्ती भूषणानामालिः श्रेणिः सैव प्रसूनानि पुष्पाणि यस्याः । किंरूपा वल्ली ? 'पृथ्वीपीठप्रतिहततमोन्मूलिताधारसाला' पृथ्वीपीठे प्रतिहततमः पातेन भृशं भग्न उन्मूलितः छिन्न आधारसालः आधारवृक्षो यस्याः । पपतेति "णिद्वाऽन्त्यो णव्" (सि० ४–३–५८) इति वृद्धिविकल्पाद्रूपम् । अत्रोपमानरूपकानुप्रासाः ॥ ५१ ॥

उद्यद्दुःखज्वरभरवती संनिमज्याहमस्मिन्
मोहाम्भोधौ सुखमिव तदा यत् पयोदान्वभूवम् ।
तापस्तस्मादुदलसदसौ कोऽप्यलं कम्पसम्प-
द्युक्तो यस्मात्समजनि ममानर्गलो विप्रलापः ॥ ५२ ॥

'हे पयोद !' हे मेघ ! अहं तदा यत् सुखमिव अन्वभूवम्,

किं कृत्वा ? त (अ)स्मिन् 'मोहाम्भोधौ' मूर्छासमुद्रे 'संनिमज्य' ब्रुडित्वा । किंरूपाऽहम् ? 'उद्यदुःखज्वरभरवती' उद्यन्ति उदयमागच्छन्ति दुःखानि स (तानि) एव ज्वरभरस्तेन युक्ता, यथा कोऽपि ज्वरार्तो जलस्थाने मङ्क्त्वा क्षणमेकं सुखमिवानुभवति तथाऽहमपि मूर्छिता सती तदा सुखमिवानुभूतवतीत्यर्थः । 'तस्मात्' मोहाम्भोधिमज्जनात् (असौ) कोऽपि 'तापः' संतापः 'उदलसत्' उल्लसति स्म । किंरूपस्तापः ? 'अलं' अत्यर्थं 'कम्पसम्पद्युक्तः' कम्पस्य सम्पदा युक्तः, 'यस्मात्' तापात् मम 'अनर्गलः' बहुलः 'विप्रलापः' समजनि "विप्रलापो विरुद्धोक्तिः" । यथा ज्वरार्त्तस्य जलमज्जने क्षणिकसुखानुभवादनु महान् तापः कम्पोत्कर्षवान् उच्छलति ततो विशिष्टतरः प्रलापो बाढमरतिः संजायते तथा ममापि मूर्छानिवृत्तौ महांस्तापोऽभूत् तस्मात्तापात् संतापो विप्रलापोऽसमञ्जसभाषणं बभूवेत्यर्थः । अत्र श्लेषरूपकजात्यनुप्रासाद्याः ॥ ५२ ॥

अग्रेधूमध्वजगुरुजनं चेदुदुह्य व्यमोक्ष्यत्
तत् पाथोधौ प्रवहणमुपक्षिप्य सोऽमज्जयिष्यत् ।
राजन्यानामधिगुणतरोऽन्योऽथ भावी विवोढे-
त्यालीनां गीरजनि च तदा मे क्षतक्षारतुल्या ॥ ५३ ॥

हे मेघ ! 'तदा' तस्मिन् प्रस्तावे इति 'आलीनां' सखीनां 'गीः' वाणी 'मे' मम क्षतक्षारतुल्याऽजनि, यथा क्षते क्षारक्षेपे महद्दुःखं जायते तथैव सखीनां वाणी मम दुःखितायाः सत्याः पुनर्गाढदुःखकरी बभूवेत्यर्थः । इतीति किम् ? हे सखि ! 'चेत्' यदि सः अग्रेधूमध्वजगुरुजनं 'उदुह्य' परिणीय 'व्यमोक्ष्यत्' अत्यक्ष्यत्, धूमध्वजः अग्निः गुरुजनः पूज्यजनः तयोरग्रे अग्रेधूमध्वजगुरुजनम्, तत् सः 'पाथोधौ' समुद्रे प्रवहणं 'उपक्षिप्य' क्षिप्त्वा 'अमज्जयिष्यत्' अब्रुडयिष्यत्, एवंभावः—यथा कोऽपि वहनं समुद्रे क्षिप्त्वा मज्जयति यथा

तस्य वहनस्य पुनरुद्धरणं न स्यात्तथा यदि त्वमपि अग्निपूज्यस्वजनसाक्षिकं परिणीय मुक्ताऽभविष्यत् तदा तव सत्याः पुनः पाणिग्रहणं नाघटिष्यत्, किन्तु त्वमपरिणीतैव मुक्ताऽसि अतस्तव पुनरन्यो वरो भविष्यतीत्याह—'अथ' अनन्तरं तव 'राजन्यानां' राजकुमाराणां (अधिगुणतरो) अन्यः 'विवोढा' वरो भावी, अतो नेमिनाथे वलितेऽपि अधृतिर्न कार्येति भावः । धूमध्वजश्च गुरुजनश्च धूमध्वजगुरुजनौ, तयोरग्रे अग्रेधूमध्वजगुरुजनम् "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३-१-३०) इति सप्तम्या अलुप्, अव्ययीभावः समासः । राजन्यानामित्यत्र "सप्तमी चाविभागे निर्धारणे" (सि० २-३-१०९) इति षष्ठी राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः "जातौ राज्ञि (ज्ञः)" (सि० ६-१-९२) इति यप्रत्ययः । विवोढेति "वहीं प्रापणे" वह, विवहतीति विवोढा "णकतृचौ" (सि० ५-१-४८) तृच्-प्रत्ययः, "हो धुट् पदान्ते" (सि० २-१-८२) ह् ढ, "अधश्चतुर्थात्तथोर्धः" (सि० २-१-७९) त ध, "तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ" (सि० १-३-६०) ध ढ, "सहिवहेरोच्चावर्णस्य" (सि० १-३-४३) पूर्वढलोपः अकार ओ सि इत्यादि । अत्र विषमसमाद्यलङ्कारा: ॥ ५३ ॥

क्व ग्रावाणः क्व कनकनगः क्वाक्षकाः क्वामरद्रुः
　काचांशाः क्व क्व दिविजमणिः क्वोडवः क्व द्युरत्नम् ।
क्वान्ये भूपाः क्व भुवनगुरुस्तस्य तद्योगिनीव
　ध्यानान्नेष्ये समयमिति ताः प्रत्यथ प्रत्यजानि ॥ ५४ ॥

हे मेघ ! अहम् अथ 'ताः' सखीः प्रति इति 'प्रत्यजानि' प्रतिज्ञातवती । इतीति किम्? अहं 'तत्' तस्मात्कारणात् योगिनीव तस्य ध्यानात् 'समयं' कालं 'नेष्ये' गमयिष्यामि । तत् किम्? हे सख्यः! क्व 'ग्रावाणः' पाषाणाः ? क्व 'कनकनगः' मेरुः ?,

'अक्षकाः' बिभीतकाः क ? 'अमरद्रुः' कल्पवृक्षः क ?, 'काचांशाः' काचशकलानि क ? 'दिविजमणिः' चिन्तामणिः क ?, 'उडवः' नक्षत्राणि क ? 'द्युरत्नं' सूर्यः क ?, अन्ये 'भूपाः' राजानः क ? 'भुवनगुरुः' श्रीनेमिः क ?, अतो यद्भवतीभिः प्रोक्तं पुनरन्यो वरो भावीति तन्निषिद्धम्, तत अन्ये भूपा ग्राव-बिभीतककाचखण्डसामान्यग्रहतुल्याः, भगवान् मेरुकल्पद्रुचिन्ता-मणिसूर्यतुल्यः, अतो मम स एव ध्येय इति। दिवि जायत इति दिविजः "अनोर्जनेर्डः" (सि० ५-१-१६८) डप्रत्ययः, "डित्य-न्त्यस्वरादेः" (सि० २-१-११४), "द्युप्रावृड्वर्षाशरत्कालात्" (सि० ३-२-२७) इति सप्तम्या अलुप्। प्रत्यजानि इति ज्ञांश् धातुः प्रतिपूर्वः "संप्रतेरस्मृतौ" (सि० ३-३-६९) इत्यात्मने-पदम्, इ, "अड् धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा" (सि०४-४-२९) अडागमः, "क्र्यादेः" (सि० ३-४-७९) श्ना ना, "जा ज्ञाजनोऽत्यादौ" (सि० ४-२-१०४) ज्ञा जा, "श्नास्तः" (सि० ४-२-९६) आकारलोपः, प्रत्यजानि इति निष्पन्नम्। अत्र यथासङ्ख्यार्थान्तरन्यासविषमाद्याः ॥ ५४ ॥

यद्यप्येनं परिणयमहं विश्वविश्वाभिनन्द्यो-
तिर्यक्कारं त्वमिव सलिलासारमाश्वत्पतिर्मे।
आगार्हस्थ्यस्थिति तदपि चावार्षिकर्क्षं तवैवा-
मुष्यैवाशां हृदि विदधती सेयमस्थां प्रजेव ॥ ५५ ॥

हे मेघ! यद्यपि 'मे' मम पतिः एनं 'परिणयमहं' पाणिग्रहणोत्सवं 'अतिर्यक्कारं' असमाप्तं कृत्वा 'आश्वत्' अगात्, किंरूपो भगवान्? 'विश्वविश्वाभिनन्द्यः' विश्वेन समस्तेन विश्वेन जगताऽभिनन्द्यः श्लाघ्यः। क इव ? 'त्वमिव' यथा त्वं 'सलिलासारं' सलिलस्य पानी-यस्य आसारो वेगवान् वृष्टिः तं अतिर्यक्कारं असमाप्तं कृत्वाऽश्वसि

१ पुंस्त्वं चिन्त्यम्, वर्षः इति हि स्यात्।

यासि, किंविशिष्टस्त्वम्? (विश्वविश्वाभिनन्द्यः) स्पष्टम्। 'तदपि च' तथापि च 'सा इयं' अहं आगार्हस्थ्यस्थिति 'अमुष्यैव' भगवत 'आशां' इच्छां (हृदि) विदधती अस्थाम्, अयं भावः—यावत्स भगवान् गृहस्थोऽभून् तावत्तस्याशा न मुक्ता यत् अद्याङ्गीकरिष्यति कल्ये वा, केव? 'प्रजेव' यथा प्रजा 'आवार्षिकर्क्षं' वार्षिकाणि वर्षासम्बन्धीनि ऋक्षाणि नक्षत्राणि तानि यावत्तवैवाशां विदधती तिष्ठति, यथा त्वयि खण्डवृष्टिं कृत्वा गते सति यावद्वर्षानक्षत्राणि भवन्ति तावज्जनस्तवाऽऽशां कुर्वन्नेव तिष्ठति, यद् अद्य वर्षिष्यति कल्ये वर्षिष्यतीति। अतिर्यक्कारमिति तिर्यञ्चं कृत्वा तिर्यक्कारम् "तिर्यचापवर्गे" (सि० ५-४-८५) इति णम्। गार्हस्थ्यस्थितेर्यावत् आगार्हस्थ्यस्थिति "आङावधौ" (सि० २-२-७०) इति पञ्चमीप्राप्तौ "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३-१-३२) इत्यव्ययीभावः समासः। एवमावार्षिकर्क्षमिति ज्ञेयम्। अत्र दृष्टान्तोपमाद्याः ॥ ५५ ॥

इति आचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-महाकाव्यटीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः सर्गः ।

श्रीनेमीशः प्रतिदिनमथो कोटिमष्टौ च लक्षा
हेम्नः प्रातर्ददभिजनं कल्पसालायते स्म ।
चित्रं कम्पं करकिशलयं नाऽऽप पादप्रदेशे
लग्नाः पुण्यसितसुमनसश्छायया चाशि विश्वम् ॥ १ ॥

'अथो' अनन्तरं श्रीनेमीशः प्रतिदिनं 'प्रातः' प्रभाते 'अभिजनं' लोकमभिमुखीकृत्य 'हेम्नः' सुवर्णस्य कोटिं अष्टौ च लक्षा ददत् सन् 'कल्पसालायते स्म' कल्पवृक्ष इवाचरति स्म । 'चित्रं' आश्चर्यं 'करकिशलयं कम्पं न आप' दानं ददतः स्थूललक्ष्यत्वेन करो न कम्पते स्म, पादप्रदेशे 'पुण्यस्मितसुमनसः' लग्नाः पुण्यैः सुकृतैः स्मिता विकस्वराः सुमनसः साधवः, 'च' अन्यत् 'छायया' शोभया विश्वं 'आशि' व्याप्तम् । अन्यस्य कल्पवृक्षस्य किशलयं कम्पते, पुण्यानि पवित्राणि स्मितानि विकसितानि सुमनसः पुष्पाणि शिरसि लगन्ति, छायया च मितां भुवं व्याप्नोति इति कल्पवृक्षादाधिक्यम् । लक्षशब्दः स्त्रीक्लीबलिङ्गः[1] । अत्रोदात्तोपमाव्यतिरेकश्लेषाः ॥ १ ॥

चिन्तारत्नं दृषदपगतज्ञानलेशः सुरद्रुः
स्वर्धेनुः सा पशुगतिगता पूर्णकुम्भश्च मृत्स्ना ।
चिन्तातीतं जगति वितरन् रुक्मरत्नादि दोषैः
प्रोक्तैरन्यैरपि परिहृतः सैष केनोपमेयः ॥ २ ॥

हे मेघ ! 'चिन्तारत्नं' चिन्तामणिः 'दृषत्' पाषाणः, 'सुरद्रुः' कल्पवृक्षः 'अपगतज्ञानलेशः' अपगतो ज्ञानस्य लेशो यस्मात्स जड इत्यर्थः, विशिष्टज्ञानाभावादेवमुक्तम् । सा 'स्वर्धेनुः' कामधेनुः 'पशुगतिगता' स्पष्टम्, 'च' अन्यत् 'पूर्णकुम्भः' कामकुम्भः 'मृत्स्ना'

---

१ क्लीबत्वं सर्वेषां चिन्त्यम् ।

मृत्तिका, ततः स एष भगवान् केन 'उपमेयः' उपमानयोग्यः ?, किं कुर्वन् ? 'जगति' पृथिव्यां 'चिन्तातीतं' चिन्तातिक्रान्तं रुक्मरत्नादि 'वितरन्' ददत्, रुक्मं सुवर्णं, रत्नानि पद्मरागादीनि, आदिशब्दाद्दुकूलाभरणहस्तितुरगादिपरिग्रहः। किंविशिष्टो भगवान्? प्रोक्तैः दोषैः चिन्तामण्यादिसम्बन्धिभिः अन्यैः अप्रोक्तैरपि दोषैः 'परिहृतः' त्यक्तः, अतः स भगवान् दानगुणेन अनुपमान एवेत्यर्थः। अत्रातिशयोक्तिसमुच्चयाद्याः ॥ २ ॥

सम्पूर्णायां शरदि शरदः प्राक्तनर्तौ कदाचित्
नेमिः क्षेमङ्करचरितधीर्याप्ययानाधिरूढः ।
शक्रेशानाधिपधृतचलच्चामरोपास्यमानः
शुद्धध्यानद्वयनत इव च्छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः ॥ ३ ॥
देवव्यूहैः समनुचरितः सर्वतो मागधर्द्धि-
र्ज्ञातेयेषु प्रसृतमतिभिः साश्रुभिर्दृश्यमूर्त्तिः ।
दिव्यातोद्ये निनदति मया काननं भूषिताङ्गो
गच्छन् दृष्टो रविरिव वनान्नीरजिन्या गवाक्षात् ॥ ४ ॥

॥ युग्मम् ॥

हे मेघ ! पाणिग्रहणत्यागादनु 'शरदि' वर्षे सम्पूर्णायां 'शरदः' शरत्कालात् 'प्राक्तनर्तौ' पूर्वर्तौ वर्षासु ऋतौ 'कदाचित्' कस्मिंश्चिदवसरे मया 'गवाक्षात्' गवाक्षमारुह्य नेमिः 'काननं' वनं गच्छन् दृष्टः । किंरूपो नेमिः ? 'क्षेमङ्करचरितधीः' क्षेमङ्करं कल्याणकारि यच्चरितं चरित्रं तत्र धीः बुद्धिर्यस्य, पुनः कथंभूतः 'याप्ययानाधिरूढः' याप्ययानं शिबिकां अधिरूढः 'शक्रेशानाधिपधृतचलच्चामरोपास्यमानः' सौधर्मेन्द्रेशानेन्द्राभ्यां धृताभ्यां चलद्भ्यां चामराभ्यामुपास्यमानः सेव्यमानः । उत्प्रेक्ष्यते—शुद्धेन ध्यानद्वयेन धर्मध्यानशुक्लध्यानरूपेण नत इव । 'छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः' छत्रस्य लक्ष्येण मिषेण ईक्ष्या दर्शनीया कीर्त्तिर्यस्य । पुनः कथंभूतः ?

देवव्यूहैः 'सर्वतः' सर्वपार्श्वेषु 'समनुचरितः' सम् सामस्त्येन अनुचरितः अनुगतः, किंरूपैर्देवव्यूहैः ?' मागधद्भिः' मागधैरिव आचरद्भिः । 'ज्ञातेयेषु' स्वजनेषु 'प्रसृतमतिभिः' प्रसृता विस्तृता मतिः बुद्धिर्येषां ते प्रसृतमतयो वृद्धा इत्यर्थः, तैः 'साश्रुभिः' क्षरदश्रुनेत्रैः दृश्या मूर्तिर्यस्य सः । क सति ? 'दिव्यातोद्ये' दिव्यवादित्रे 'निनदति' शब्दायमाने सति । किंविशिष्टो नेमिः ? 'भूषिताङ्गः' स्पष्टम् । क इव ? रविरिव यथा 'नीरजिन्या' कमलिन्या रविः श्रीसूर्यः 'वनात्' वनमाश्रित्य काननं गच्छन् दृश्यते, वनं पानीयं तदाश्रित्य तत्र स्थितयेत्यर्थः, सूर्योऽपि अधो गच्छन् वनं प्रविशन् दृश्यते, अथवा कस्य पानीयस्य आननं मुखम्, सायं पश्चिमाम्भोधौ रविर्निमज्जतीति रूढिः । क्षेमङ्करेति क्षेमं करोतीति "क्षेमप्रियमद्रभद्रात् खाण्" (सि० ५-१-१०५) इति अणूप्रत्यये "खित्यनव्ययारुषोर्मोऽन्तो ह्रस्वश्च" (सि० ३-२-१११) इति मोऽन्ते क्षेमङ्करेति पदम् । मागधा इवाचरन्तीति "कर्तुः क्विप्०" (सि० ३-४-२५) क्विपि शतरि भिसि मागधद्भिरिति । ज्ञातेयेषु ज्ञातयः स्वजनाः, ज्ञातेरपत्यानि ज्ञातेयाः "इतोऽनिञः" (सि० ६-१-७२) इति एयण् । दिव्यातोद्ये इति जातावेकवचनम् । वनात् गवाक्षादिति "गम्ययपः कर्माधारे" (सि० २-२-७४) इति पञ्चमी । अत्र परिकरोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ३-४ ॥

सद्योमाद्यद्विषमविरहाबाधविस्मारिणी मां
मूर्छाऽतुच्छाऽसजदसुपरिभ्रंशभीता सखीव ।
यावत्तावत् परपरिचितेर्मत्सरेणेव सख्यः
कृत्वा किञ्चिच्छलमलमपासारयंस्तां वराकीम् ॥ ५ ॥

हे मेघ ! यावत् अतुच्छा मूर्छा मां 'असजत्' आलिङ्गत्, किंविशिष्टा ? 'सद्योमाद्य०' सद्यः तत्कालं माद्यन् प्रबलीभवन् विषमविरहस्य आबाधः पीडा तां (तं) विस्मारयतीति, उत्प्रेक्ष्यते—असूनां प्राणानां परिभ्रंशात् च्यवनात् भीता सखीव, यथा सखी काश्चि-

ढाढदुःखितां सखीं विरहार्त्तिविस्मारणार्थं सजति तावत् सख्यः 'किञ्चिच्छलं' जलसेचनादिकं कृत्वा तां वराकीं ('अलं' अत्यर्थं) अपासारयन्, उत्प्रेक्ष्यते—'परपरिचितेः' अन्यपरिचयस्य मत्सरेणेव, अग्रेतना हि सख्यः परपरिचयं न क्षमन्ते इति। एतावता श्रीनेमिनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मम विरहदुःखान्मूर्छा समेता, ततः सखीभिः जलसेचनाद्युपचारैर्मूर्छा वालितेति। अत्रोत्प्रेक्षानुप्रासोपमाद्याः॥५॥

त्यक्तैवातः परमचिकिलक्लिन्नवासोवदेषा
हा किं भावि? स्फुटसि हृदय? द्वैधमापद्य किं न?।
ईदृक्चिन्ताकुलतममनस्तापबाष्पायितास्यो-
द्यातास्राम्बुर्व्यजनिषि ततोऽस्तोकशोकोदकुम्भः॥ ६॥

हे मेघ! 'ततः' तदनन्तरं अहं 'अस्तोकशोकोदकुम्भः व्यजनिषि' अस्तोको बहुलः शोकस्तदेव उदकं तस्य कुम्भः उदकुम्भः पानीयकुम्भरूपा जाता। किंरूपाऽहम्? 'ईदृक्चिन्ता०' ईदृग् वक्ष्यमाणा या चिन्ता तयाऽऽकुलतमं अत्याकुलं यन्मनस्तस्य तापेन बाष्पान् उष्णनिःश्वासरूपान् उद्वान्तं यद् आस्यं मुखं तत्रोद्यातानि प्रवाहेण व्यूढानि अस्राम्बूनि अश्रुजलानि यस्याः सा ईदृक्षा। 'एषा' अहं अतः परं 'अचिकिलक्लिन्नवासोवत्' त्यक्तैव, अचिकिलः कर्दमस्तेन क्लिन्नं आर्द्रं यद्वासो वस्त्रं तद्वत्। यावद्भगवान् गृहस्थ आसीत्तावदाशाऽभूत् यद् अद्य स्वीकरिष्यति कल्ये वा, अतः परं तु दीक्षितेन भगवताऽहं त्यक्तैव। 'हा' इति खेदे, किं भावि?, हे हृदय! 'द्वैधं' द्विधात्वं 'आपद्य' प्राप्य किं न 'स्फुटसि' विदीर्यसे?। द्वौ प्रकारौ द्वैधम् "द्वित्रेर्धमज्वेधौ वा" (सि० ७–२–१०७) इति धमञ्प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१)। बाष्पमुद्वान्तं बाष्पायितम् "फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने" (सि० ३–४–३३) क्यङ्ष्प्रत्ययः, "दीर्घश्चियङ्यक्क्येषु०" (सि० ४–३–१०८) दीर्घः, बाष्पायते स्म बाष्पायितं "क्तक्तवतू"

(सि० ५–१–१७४) क्तप्रत्यय इत्यादि । उदकस्य कुम्भ उदकुम्भः "वैकव्यञ्जने पूर्वे" (सि० ३–२–१०५) इति उदकस्य उद । अत्रोपमातिशयोक्तिरूपकानुप्रासाः ॥ ६ ॥

प्राग्निर्दग्धं दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्म-
प्रख्यासौख्यैर्जगदिनजगज्जीवनापानपीनम् ।
सम्प्रत्युष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानं
स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं चूर्णखण्डीयते स्म ॥ ७ ॥

हे मेघ ! 'इदकं' हृदयं 'स्फोटं स्फोटं' स्फुटित्वा स्फुटित्वा 'चूर्णखण्डीयते स्म' चूर्णखण्डमिवाचरति स्म, किंरूपं हृदयम् ? 'दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्मप्रख्यासौख्यैः प्राग्निर्दग्धं' दिने दिने नवन्ति नवीनानीवाचरन्तीति तीव्राणि वर्षेजानि वर्षोत्पन्नानि शुष्मप्रख्यानि शुष्मा अग्निः तत्प्रख्यानि तत्प्रकाराणि असौख्यानि दुःखानि तैः (प्राक्–पूर्वं) निर्दग्धम्, पुनः कथंभूतम् ? 'जगदिन०' जगत इनः स्वामी श्रीनेमीशस्तस्य यज्जगज्जीवनं आपानं अत्यन्तदर्शनं तेन पीनं उपचितम्, पक्षे जीवनं पानीयं तस्य आ सामस्त्येन पानम्, पुनः कथंभूतम् ? 'सम्प्रति' अधुना 'उष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानम्' उष्णानि उच्छ्वसितानि तेषां वशतो बाष्पसम्बन्धी धूमस्तमुद्वमत्, अयमर्थः—यथा चूर्णखण्डं पूर्वमग्निना दह्यते पश्चात् पानीयेन सिच्यते ततो बाष्पधूमं वमति ततः स्फुटति, एवमत्रापि यानि भगवत्तोरणपश्चाद्वलनदीक्षाग्रहणान्तरालवर्षसमुत्पन्नानि दिने दिने नवीनान्येव विरहदुःखानि तान्यग्निसदृशानि पश्चाद्दीक्षावसरे भगवतो यद्दर्शनं तदेव जलं तेन पानम्, अधुना तु उष्णोच्छ्वासा बाष्पधूमतुल्याः । वर्षेज इत्यत्र वर्षे जायन्त इति वर्षेजानि "सप्तम्याः" (सि० ५–२–१६९) इति डप्रत्ययः, "डित्यन्त्यस्वरादेः" (सि० २–१–११४) अन्लोपः, "वर्षक्षरवराप्सरःशरोरोमनसो जे" (सि० ३–२–२६) इति सप्तम्या अलुप् । धूममुद्वमतीति "फेनोष्मबाष्पधू-

मादुद्गमने" (सि० ३–४–३३)।स्फोटं स्फोटं णम्प्रत्ययः । कुत्सितमल्पमज्ञातं वा इदं इदकम् "लोकात्" (सि० १–१–३) अम्, अग्रे विश्लेषः, "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" (सि० ७–३–२९) विचालेऽक्प्रत्ययः । अत्रोपमानुप्रासाद्याः ॥ ७ ॥

अत्र त्यक्त्वाऽखिलमपि यता स्वामिना काननाय
व्युच्छिन्नाशा मुकुलितमुखी दीर्घदाहैकसद्म ।
रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनादस्तिसायं-
वीकाशाशा दिनकुमुदिनीर्बह्वमन्येऽद्य मत्तः ॥ ८ ॥

अहं अद्य 'मत्तः' मत्सकाशात् 'दिनकुमुदिनीः बहु अमन्ये' दिने कुमुदिन्यः संकुचिता निःश्रीका भवन्ति परं ता अपि मत्तो भव्या इत्यर्थः, किंविशिष्टाऽहम्? स्वामिना 'व्युच्छिन्नाशा' त्रोटिताभिलाषा । किंविशिष्टेन स्वामिना ? अत्र 'अखिलमपि' गृहपरिवारालङ्कारादिकं त्यक्त्वा 'काननाय' वनाय 'यता' गच्छता । 'मुकुलितमुखी' संकुचितवक्त्रा, 'दीर्घदाहैकसद्म' स्पष्टम् । किंरूपा दिनकुमुदिनीः ? 'रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनात् अस्तिसायंवीकाशाशाः' रक्तो रक्तवर्णः उदेष्यन् उदयं प्राप्स्यन् निज आत्मीयः पतिः स्वामी चन्द्रः तस्य कराणां आसञ्जनात् आश्लेषात् अस्ति विद्यमाना सायं सन्ध्यायां वीकाशाशा विकस्वरत्ववाञ्छा यासां ताः, सायं चन्द्र उदेष्यति तत्कराश्लेषात्ता विकस्वरा भविष्यन्ति, अहं तु एवंविधा नास्मि, तत्पक्षे रक्तो रागपर उत् प्राबल्येन एष्यन् आगमिष्यन् निजः पतिः स्वामी तस्य करस्यासञ्जनात् आश्लेषात् चिरेणाप्यविद्यमानवीकाशाशा, मम चिरेणापि स्वपतिकराश्लेषो नास्तीत्यर्थः । यता इति "इणक् गतौ" एतीति वर्तमाने शतृप्रत्ययः अत्, "ह्विणोरप्विति व्यौ" (सि० ४–३–१५) यत्वं टाप्रत्ययः । मुकुलितमुखीति "नखमुखादनाम्नि" (सि० २–४–४०) ङीप्रत्ययः । काननायेति "गतेर्नवाऽनाप्ते" (सि० २–२–६३) इति कर्म-

प्रयोगे चतुर्थी । रक्तश्चासौ उदेष्यंश्च रक्तोदेष्यन्, रक्तोदेष्यंश्चासौ निजपतिश्चेत्यादि समासः । अस्तीति विद्यमानार्थोऽव्ययप्रयोगः "विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः" (सि० १-१-३३) इतिवचनात् । वीकाश इति "नामिनः काशे" (सि०३-२-८७) इति वी-दीर्घः । अमन्ये इति बुधिं-मनिंच् इति धातोर्ह्यस्तन्या इप्रत्यये रूपम् । अत्र व्यतिरेकहेतुश्लेषाद्याः ॥ ८ ॥

कोकी शोकाद्वसतिविगमे वासरान्ते चकोरी
शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकण्ठी ।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवाऽ-
मत्रं वारां ह्रद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः ! ॥ ९ ॥

भो मेघ ! 'कोकी' चक्रवाकी 'वसतिविगमे' रात्रिप्रान्ते 'शोकात्' विरहात् मुच्यते, चकोरी 'वासरान्ते' दिनान्ते शोकान्मुच्यते, 'नीलकण्ठी' मयूरी 'शीतोष्णर्तुप्रशमसमये' शोकान्मुच्यते, शीतोष्णसम्बन्धिनो ये ऋतवस्तेषां प्रशमः प्रान्तः तस्य समये वर्षाकालप्रारम्भे इत्यर्थः । 'तु' पुनर्भो मेघ ! अहं 'आभवं' भवं जन्म यावत् 'शुचां' शोकानां 'अमत्रं' पात्रं 'आभवं' आ सामस्त्येन अभवम् । क इव ? 'ह्रद इव' यथा ह्रदः 'वारां' पानीयानाममत्रं भवति । किंरूपाऽहम् ? 'तरुणिमभरे' तारुण्योत्कर्षे पत्या त्यक्ता, क इव ? 'कञ्चुक इव' यथा 'चक्रिणा' सर्पेण कञ्चुको निर्मोकपट्टः त्यज्यते, यथा स तं त्यक्त्वा उद्याति तथा सोऽपि मां त्यक्त्वा उद्यातवानेव । तरुणस्य भावः तरुणिमा "पृथ्वादेरिमन् वा" (सि० ७-१-५८) इति इमन्प्रत्ययः । अत्र समुच्चयातिशयोक्त्युपमानानुप्रासाः ॥ ९ ॥

शम्बाकृत्योपयमनियमोद्दुःखहल्याभिरुप्ते
भर्तुर्दीक्षाग्रहनिशमनेनाद्य बीजाकृतेऽथ ।
सिक्तो नेत्राम्बुभिरविरलैः शोकशालिर्विशाले
शालेयेऽस्मिन्नुरसि सरसे पश्य पम्फुल्यतेऽसौ ॥ १० ॥

अहो मेघ ! 'पश्य' विलोकय (अद्य) अस्मिन् 'उरसि' हृदये 'विशाले' विस्तीर्णे 'शालेये' क्षेत्रे असौ शोकशालिः 'पम्फुल्यते' अत्यर्थं फलति, किंरूपे शालेये ? 'उपयमनियमोदुःखहल्याभिः शम्बाकृत्य उप्ते' उपयमः पाणिग्रहणं तस्य नियमस्तस्माद् यानि उद्दुःखानि प्रबलदुःखानि तान्येव हल्या हलानि ताभिः शम्बाकृत्य अनुलोम्य कृष्टं तिर्यक् कृष्ट्वा उप्ते वापयुक्ते, पुनः कथंभूते ? 'अथ' अनन्तरं 'भर्तुः' स्वामिनः 'दीक्षाग्रहनिशमनेन' दीक्षाग्रहणश्रवणेन 'बीजाकृते' आदावुप्ते पश्चाद्बीजैः सह कृष्टे इत्यर्थः । किंविशिष्टः शोकशालिः ? अविरलैः 'नेत्राम्बुभिः' अश्रुजलैः सिक्तः । पुनः कथंभूते उरसि ? 'सरसे' शृङ्गाररसयुक्ते, पक्षे सरसे आर्द्रे । शम्बाकरणं पूर्वं बीजाक्रियते स्म बीजाकृतम् इत्यत्र "तीयशम्बबीजात्कृगा कृषौ डाच्" (सि० ७-२-१३५) इति डाच्प्रत्ययः । अत्र रूपकानुप्रासातिशयोक्तयः ॥ १० ॥

दुःखस्यैवं जलधर ! परां कोटिमाटीकितां मां
　चक्रस्येवोद्धुरविरहतस्तस्य भार्यां विदित्वा ।
चेत्त्वं सम्यग् जगति सविता तद्भजोच्चैर्गवौघं
　तन्वानो मन्मुद उदयदं तं क्षमाधीशवित्तम् ॥ ११ ॥

हे जलधर ! 'चेत्' यदि त्वं 'जगति' विश्वे सम्यक् 'सविता' पिता असि, अत्यन्तजगद्वत्सलत्वेन पितुरारोपः, अथवा सविता सूर्यः, 'तत्' तस्माद्धेतोः त्वं तं 'क्षमाधीशवित्तं भज' दूतत्वं कुर्विति यावत्, क्षमायाः शमस्य अधीशाः स्वामिनो मुनयस्तेषु वित्तं प्रधानं मुनीन्द्रश्रेष्ठमित्यर्थः, पक्षे क्षमां पृथिवीं दधातीति "उपसर्गाद्दः किः" (सि० ५-३-८७) इति किप्रत्यये क्षमाधयः पर्वताः तेषामीशाः स्वामिनः प्रधानपर्वतास्तेषु वित्तं प्रसिद्धमुदयाचलमित्यर्थः । किं कृत्वा? मां तस्य भार्यां चक्रस्य भार्यामिव 'उद्धुरविरहतः' प्रबलविरहात् 'एवं' अमुना प्रकारेण दुःखस्य 'परां' प्रकृष्टां 'कोटिं' अग्रविभागं 'आटी-

कितां' आरूढां 'विदित्वा' ज्ञात्वा, यथाऽन्योऽपि सविता चक्रवाकस्य भार्यां दुःखितां ज्ञात्वा उदयाचलं भजते तद्विरहं स्फेटयति तथा त्वमपि तं प्रभुं भक्त्वा मद्विरहं स्फेटयेत्यर्थः । किं कुर्वाणः ? 'उच्चैः' अतिशयेन गवौघं तन्वानः, गावो जलानि तेषामोघः प्रवाहः तम्, दूतपक्षे गावो वाचः, सूर्यपक्षे गावः किरणानि । किंविशिष्टं क्ष्माधीशवित्तम् ? 'मन्मुदः' मामकहर्षस्य उदयदम्, पर्वतपक्षेऽपि उदयदं उदयाचलमिति । आटीकितामिति "ककुङ् स्वकुङ्" इत्यादिदण्डके टीकृधातुराङ्पूर्वः आटीकते स्म "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः" (सि० ५-१-११) क्तप्रत्ययः, इट् । गवौघमिति "स्वरे वानऽक्षे" (सि० १-२-२९) सस्वर-अव । अत्र रूपकोपमाश्लेषोदात्ताः ॥ ११ ॥

विश्रान्तेऽस्मिंस्तव गिरिवरे निःशलाकप्रदेशे
ध्यानासीनं यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिम् ।
ताद्रूप्याप्तेरचलमचलस्येव सङ्गेन नाथं
वीक्ष्य स्थेयास्त्वमपि निभृतं तद्वदेवासमाधि ॥ १२ ॥

हे मेघ! त्वमपि नाथं वीक्ष्य 'आसमाधि' समाधिं यावत् 'तद्वदेव' भगवद्वदेव 'निभृतं' निश्चलं यथा भवति स्थेयाः, "समाधिस्तु तदेवार्थमात्राभासनरूपकम् ।" (अभि०चिन्ता० १-९५) इति समाधिरुत्कृष्टध्यानाङ्गम्, ततो भगवान् यावत् समाधिं धृत्वा निभृतस्तिष्ठति तावत्त्वमपि निश्चलः स्थेयाः । किंरूपं नाथम् ? अस्मिन् गिरिवरे 'निःशलाकप्रदेशे' एकान्तस्थाने 'ध्यानासीनं' ध्याने निविष्टम् । किंविशिष्टे गिरिवरे ? 'तव विश्रान्ते' त्वया विश्रम्यते यस्मिन्नित्यर्थः । पुनः किंरूपम् ? 'यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिं' यमा अहिंसादयो नियमाः शौचादयः तेषां धिया बुद्ध्या धीरा निश्चला घोणाग्रे नासिकाग्रे दृष्टिर्यस्य, पुनः कथंभूतम् ? अचलम्, कस्माद्धेतोः? उत्प्रेक्ष्यते-'अचलस्य' पर्वतस्य सङ्गेन 'ताद्रूप्याप्तेरिव' तद्रूपम् अचलरूपं तस्य भावस्ताद्रूप्यं तस्याप्तिः प्राप्तिस्तस्या हेतोः, एतावताऽचलस्य

संयोगात् किं भगवानप्यचलो जात इति। विश्रान्ते इत्यत्र विश्रम्यतेऽस्मिन्निति विश्रान्तं तत्र "अद्यर्थाच्चाधारे" (सि० ५–१–१२) क्तप्रत्ययः, "अहन्पञ्चमस्य०" (सि० ४–१–१०७) इति दीर्घः, "म्नां धुड्वर्गेऽन्त्यो पदान्ते" (सि० १–३–३९) म् न् धुट्। तवेति "क्तयोरसदाधारे" (सि० २–२–९१) इति सूत्रबलात् "कर्तरि" (सि० २–२–८६) इति षष्ठी। अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ १२ ॥

आपीयासौ शमसुखरसं संविदानन्दपूर्णो
यावद्धीमन्! भवति भगवान् किञ्चिदुन्मीलिताक्षः।
तावत्तस्य क्रमकमलयोः प्राप्य रोलम्बलीलां
शक्लोऽक्लान्तः सुमृदुवचसा वाचयेर्वाचिकानि॥ १३ ॥

हे धीमन्! यावदसौ भगवान् किञ्चिदुन्मीलिताक्षो भवति, उन्मीलिते उद्घाटिते अक्षिणी येन स उन्मीलिताक्षः, "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" (सि० ७–३–१२६) समासान्तोऽन्प्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) इलोपः। किंरूपो भगवान्? शमसुखरसं 'आपीय' पीत्वा संविदानन्दः चिदानन्दः तेन पूर्णः। त्वं तावत्तस्य 'क्रमकमलयोः' चरणकमलयोः 'रोलम्बलीलां' भ्रमरलीलां प्राप्य 'सुमृदुवचसा' सुकोमलगिरा 'वाचिकानि' संदेशान् 'वाचयेः' कथयेः। किंरूपस्त्वम्? 'शक्लः' "शक्लः प्रियंवदः" (पुनः) कथंभूतः? 'अक्लान्तः' अखिन्नः। आपीयेति "पीङ्च् पाने" इति धातोः प्रयोगः। शक्ल इति "शक्लृट् शक्तौ" शक्, शक्नोतीति शक्लः, "शामाश्याशकम्ब्यमिभ्यो लः" (सि० उणा० ४६२) लप्रत्ययः, "शक्लः मनोज्ञदर्शनः मधुरवाक्" (४६२ टीका) इत्याद्युणादिदर्शनात्। अत्र परिकरानुप्रासाद्याः ॥ १३ ॥

या स्वीकृत्य प्रथममनघा सर्वसीमन्तिनीनां
धुन्योघानामिव सुरधुनीशेन कोटीरिताऽभूत्।

खेदक्षाराम्बुनिधिसमिता दूरिताद्य त्वया सा
विज्ञप्तिं ते कलुषिततरा नेतरेवं विधत्ते ॥ १४ ॥

हे नाथ! 'ईशेन' स्वामिना या 'अनघा' निष्पापा प्रथमं स्वीकृत्य सर्वसीमन्तिनीनां 'कोटीरिताऽभूत्' कोटीरः क्रियते स्मेति मुकुटरूपा कृतेत्यर्थः। केव? 'सुरधुनीव' यथा सुरधुनी गङ्गा 'ईशेन' ईश्वरेण स्वीकृत्य 'धुन्योघानां' नदीसमूहानां मध्ये कोटीरिता शिरस्यारोपितेति यावत्। हे नेतः! सा राजीमती 'ते' तव एवं विज्ञप्तिं विधत्ते। किंरूपा सा? अद्य त्वया दूरिता सती 'खेदक्षाराम्बुनिधिसमिता' खेद एव शोक एव क्षाराम्बुनिधिस्तेन समिता मिलिता, अत एव 'कलुषिततरा' अतिशयेन कलुषिता परिणतदुःखा, अन्याऽपि सुरधुनी ईश्वरशिरसो भ्रष्टा क्षारसमुद्रे मिलिताऽत्यर्थं कलुषिता आविला भवति। कोटीरः क्रियते स्म "णिज्बहुलं०" (सि० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः, "त्रन्त्यस्वरादेः" (सि० ७-४-४३) कोटीर्यते स्म क्तप्रत्ययः, इट्, "णेरनिटि" (सि० ४-३-८३) णिज्लोपः, एवं दूरिता कलुषितेति ज्ञेयम्। (अत्र) दृष्टान्तयथासङ्ख्यापरिकरानुप्रासाः ॥ १४ ॥

यां क्षैरेयीमिव नवरसां नाथ वीवाहकाले
सारस्नेहामपि सुशिशिरां नाग्रहीः पाणिनाऽपि।
सा किं कामानलतपनतोऽतीव बाष्पायमाणा-
ऽनन्योच्छिष्टा नवरुचिभृताऽप्यद्य न स्वीक्रियेत ॥१५॥

हे नाथ! वीवाहकाले त्वं यां 'सुशिशिरां' सुशीतलां 'क्षैरेयीं' रसालामिव 'पाणिनाऽपि' करेणापि 'नाग्रहीः' न गृहीतवान्। किंविशिष्टां याम्? 'नवरसां' नवो रसः शृङ्गारो माधुर्यरूपो वा यस्यां सा ताम्। पुनः कथंभूताम्? 'सारस्नेहामपि' सारः स्नेहो घृतं प्रेम वा यस्याः। सा राजीमती क्षैरेयी अद्य किं न 'स्वीक्रियते' अङ्गीक्रियते?, किंरूपा सा? कामानलतपनतः 'अतीव' अत्यर्थं

'बाष्पायमाणा' कामाग्नितापादित्यर्थं बाष्पमुद्वमन्ती, 'अनन्योच्छिष्टा' अन्यैरभुक्तेत्यर्थः । किंरूपेण त्वया ? 'नवरुचिभृताऽपि' नवा रुचिः कान्तिर्जिघत्सा वा तां बिभर्तीत्येवंभूतः तेन, यथाऽन्योऽपि बुभुक्षावान् शीतलां क्षैरेयीं न भुङ्क्ते परमत्युष्णां क्षैरेयीं भुङ्क्ते तथा कामाग्नितप्ताया ममापि भोगे साम्प्रतमवसर इत्यर्थः । अत्रोपमाश्लेषविशेषोक्तयः ॥ १५ ॥

आसीः पश्चादपि यदि विभो! मां मुमुक्षुर्मुमुक्षुः
भूत्वा तत्किं प्रथममुररीचर्करीषि स्वबुद्ध्या ।
सन्तः सर्वेऽप्यतरलतया तत्तदेवाद्रियन्ते
यन्निर्वोढुं हरशशिकलान्यायतः शक्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हे ('विभो!') नाथ! त्वं पश्चादपि यदि 'मुमुक्षुः' मुनिः भूत्वा मां 'मुमुक्षुः' मोक्तुकाम आसीः तत् प्रथमं 'स्वबुद्ध्या' स्वजनबुद्ध्या किं 'उररीचर्करीषि' अत्यर्थमङ्गीकरोषि ?, सर्वेऽपि सन्तः 'अतरलतया' निश्चलतया तत्तदेव वस्तु 'आद्रियन्ते' प्रारभन्ते यद् हरशशिकलान्यायतः 'निर्वोढुं' निर्वहणाय 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्ति, यथा हरेण ईश्वरेण शशिकला चन्द्रकला मस्तके स्थापिता कदापि न मुच्यते । उररी इति अङ्गीकारार्थे ऊर्यादौ, "ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः" (सि० ३–१–२) गतिसंज्ञा । अत्रानुप्रासार्थान्तरन्यासनिदर्शनाद्याः ॥ १६ ॥

सत्रादत्राहृतमसुमतां वृन्दमानन्दसद्म
ज्ञानाभावादपगुणमपि क्लेशनाशादकार्षीः ।
व्यक्तं भक्तं जनमिममथो मोदयस्यार्त्तिभाजं
नो वाचाऽपि प्रसृमरकृप! च्छेक! कोऽयं विवेकः? १७

हे नाथ! त्वं 'असुमतां' प्राणिनां वृन्दं क्लेशनाशात् 'आनन्दसद्म' हर्षपात्रमकार्षीः, किंरूपं वृन्दम्? 'सत्रात्' वनात् 'अत्र' पुरान्तः 'आहृतं' आनीतम्, पुनः कथंभूतम्? ज्ञानाभावात् 'अपगुणमपि'

निर्गुणमपि । 'अथो' अनन्तरं 'व्यक्तं' दक्षं 'भक्तं' सेवापरं 'इमं' मल्लक्षणं जनं 'अर्तिभाजं' पीडायुक्तं 'वाचाऽपि' वचनेनापि नो 'मोदयसि' हर्षयसि । हे 'प्रसृमरकृप!' प्रसृमरा प्रसरणशीला कृपा यस्य, हे 'छेक!' निपुण! अयं को विवेकः?, अयमर्थः—वनवासादपरिचिताः स्पष्टज्ञानाभावान्निर्गुणास्तिर्यञ्चः क्लेशं स्फेटयित्वा प्रमोद्यन्ते, असौ निपुणो भक्तो लोकः समीपवर्ती आर्तो वचनेनापि न संतोष्यते,अयं को विचारः? इत्यर्थः। अत्र विरोधानुप्रासाद्याः ॥ १७॥

प्रागुद्वाहं स्वजनजनितेनाग्रहेणानुमेने
संचेरेऽन्तर्गुरुपरिजनं पीलुना चोपयन्तुम् ।
द्वारात्प्रत्यावृतदथ भवान् कूकदस्यापि शावो
गर्ध्येतैवं गुणगणनिधे! नो चतुर्हायणोऽपि ॥ १८ ॥

हे नाथ! भवान् प्राक् स्वजनजनितेनाऽऽग्रहेण 'उद्वाहं' विवाहं 'अनुमेने' अभ्युपगतवान्, अन्तर्गुरुपरिजनं 'पीलुना' हस्तिना 'उपयन्तुं' परिणेतुं 'संचेरे' चलति स्म, 'अथ' अनन्तरं कूकदस्यापि द्वारात् 'प्रत्यावृतत्' पश्चाद्वलति स्म, "सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकदः।" (अभि० चिन्ता० ३–१३९) कूकदः श्वशुर इत्यर्थः। हे गुणगणनिधे! एवं 'चतुर्हायणोऽपि' चतुर्वर्षीयोऽपि ('शावः') बालकः 'नो गर्ध्येत' नो वञ्च्येत यथाहं वञ्चितेत्यर्थः। संचेरे इत्यत्र "समस्तृतीयया" (सि० ३–३–३२) इत्यात्मनेपदम्। 'अन्तर्गुरुपरिजनं' गुरवः पूज्याः पित्रादिकाः परिजनः परिवारः तेषामन्तर् मध्ये "पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३–१–३०) इति समासः। प्रत्यावृतदित्यत्र "द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्" (सि० ३–३–४४) अनेनात्मनेपदनिषेधः। गर्ध्येतेति "गृधौच् अभिकाङ्क्षायाम्" गृध्। चत्वारि हायनानि यस्यासौ चतुर्हायणः "चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि" (सि० २–३–७४) नस्य णत्वम्। अत्र दीपकानुप्रासाद्याः ॥ १८ ॥

पित्र्यः सोऽयं तव मुररिपुः सुन्दरीणां सहस्रैः
लीलागारेऽनुपरततरः सन्ततं रंरमीति।
ऊरीकर्तुं क्षणमुदसहस्त्वं तु नैकामपीदृक्-
सामर्थ्येऽपि प्रकृतिमहतां कोऽथवा वेत्ति वृत्तम् ॥ १९ ॥

हे नाथ! अयं 'मुररिपुः' मुरारिः तव 'पित्र्यः' ज्येष्ठभ्राता 'सुन्दरीणां' स्त्रीणां सहस्रैः 'लीलागारे' क्रीडागारे 'सन्ततं' निरन्तरं 'रंरमीति' अत्यर्थं रमते, किंरूपः पित्र्यः ? 'अनुपरततरः' अत्यर्थमनिवृत्तः । 'तु' पुनस्त्वं 'ईदृक्सामर्थ्येऽपि' ईदृक्समर्थत्वेऽपि सति एकामपि सुन्दरीं 'ऊरीकर्तुं' अङ्गीकर्तुं क्षणं न'उदसहः' उत्सहसे स्म। अथवा 'प्रकृतिमहतां' स्वभावगरिष्ठानां पुरुषाणां 'वृत्तं' चरित्रं को वेत्ति? अपि तु न कोऽपि वेत्ति । अथवा प्रकृष्टाः कृतिनो दक्षास्तेषु महताम्, एतावता अत्यन्तगाढतरचतुराणामत्यन्तचतुरत्वमपि लोके उपहासायेति व्यङ्ग्यम् । पितुस्तुल्यः पित्र्यः "शाखादेर्यः"(सि० ७-१-११४)इति यप्रत्ययः, "ऋतो रस्तद्धिते" (सि० १-२-२६) ऋ रः । 'उदसहः' इत्यत्र "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) अनेन णिज्विकल्पः । अत्र विरोधार्थान्तरन्यासानुप्रासाद्याः ॥१९॥

श्रीमानर्हन्नितरजनवन्मन्मथस्य व्यथाभिः
किं बाध्येतेत्यखिलजनतां मा रिरेकाम कामम्।
ध्यात्वैवं चेत्तपसि रमसे तत्प्रतिज्ञातलोपे
कस्तामत्र त्रिभुवनगुरो! रेकमाणां निषेद्धा? ॥ २० ॥

हे नाथ! त्वमेवं बुद्ध्वा (चेत्) तपसि रमसे, एवमिति किम्? वयं 'अखिलजनतां' समस्तजनसमुदायं 'कामं' अत्यर्थं इति 'मा रिरेकाम' शङ्कां नो कारयामः, इतीति किम्? श्रीमान् अर्हन् इतरजनवत् 'मन्मथस्य' कामस्य 'व्यथाभिः' पीडाभिः किं 'बाध्येत' पीड्येत ?, यद्यहं पाणिग्रहणं करिष्यामि तदा सर्वे जनाः शङ्कां करिष्यन्ति यदर्हन्तोऽपि प्राकृतलोकवत् कामेन किं बाध्यन्ते ? अतः

पाणिग्रहणं त्यक्त्वा तपसि रेमे । 'तत्' तदा हे त्रिभुवनगुरो ! अत्र 'प्रतिज्ञातलोपे' अङ्गीकृतपरित्यागे 'तां' जनतां 'रेकमाणां' शङ्कमानां को 'निषेद्धा' निषेत्स्यति ? अयमर्थः—यदि पूर्वशङ्कानिराकरणाय पाणिग्रहणं मुक्तं तदापि अङ्गीकृतं प्रतिज्ञातं पाणिग्रहणं मुक्त्वा तपो लास्यसि तदापि लोकः शङ्कां करिष्यति यन्महान्तः किं प्रतिज्ञालोपं कुर्वन्ति ? । अत्र मा रिरेकाम इति "रेकृङ् शङ्कायाम्" रेक्, रेकमाणां प्रायुङ्क्ष्महि "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (सि० ३–४–२०) णिग्, "अद्यतनी दि ताम् अन्०" (सि० ३–३–११) इति म, माङ्योगेऽड्निषेधः, "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि०" (सि० ३–४–५८) ङप्रत्ययः, "आद्योंऽश एकस्वरः" (सि० ४–१–२) रे द्विः, "ह्रस्वः" (सि० ४–१–३९) रि, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिग्लोपः, "लोकात्" (सि० १–१–३) क सस्वरमव्यस्याः आकार इति मा रिरेकामेति सिद्धम् । अत्र व्यतिरेकोपमानुप्रासाद्याः ॥२०॥

तारुण्येऽपि प्रभवति यदि ध्वस्तवैराग्यरङ्गे
नीरागोऽसीत्यविकृतधिया कामभोगानहासीः ।
तत्किं पात्रेसमितजनतापङ्क्तिभीतेन शङ्ख-
स्वानात् क्षोभः पुरि हरिभुजामोटनं च व्यधायि ?॥२१॥

हे नाथ ! यदि त्वमिति 'अविकृतधिया' निर्विकारबुद्ध्या कामभोगान् 'अहासीः' अत्याक्षीः, इतीति किम् ? अहं तारुण्येऽपि 'प्रभवति' प्रौढीभवति सति 'नीरागोऽस्मि' संसाररागरहितो वर्ते, किंरूपे तारुण्ये ? 'ध्वस्तवैराग्यरङ्गे' ध्वस्तो विनाशितो वैराग्यस्य रङ्गो येनासौ ध्वस्तवैराग्यरङ्गस्तस्मिन् । 'तत्' तदा त्वयेत्यसदप्याक्षिप्यते 'शङ्खस्वानात्' शङ्खनादात् 'पुरि' नगर्यां 'क्षोभः' आकम्पः 'हरिभुजामोटनं च' हरिः कृष्णस्तस्य भुजस्यामोटनं वालनं च 'किं व्यधायि ?' कथं चक्रे ?, किंविशिष्टेन त्वया ? 'पात्रेसमितजनतापङ्क्तिभीतेन' यः पराक्रमरहितः केवलं भोजनवेलायामेव पात्रेषु

न्यस्तेषु (समेति) मिलति स पात्रेसमितः कथ्यते, पात्रेसमिता पौरुषरहिता जनता तस्याः पङ्क्तेर्भीतेन यद्यहं कश्चित्पराक्रमं न कलयिष्यामि तदा लोको भोजनसमर्थानामेव जनानां पङ्क्तौ मां स्थापयिष्यतीति । अतो यदि त्वमेकान्तेन नीरागो वर्तसे तदा त्वया शङ्खपूरणं कृष्णबाहुमोटनं च कथं क्रियते स्म ?, यदि तत् पौरुषप्रकाशनार्थं कृतं तदा पाणिग्रहणमपि क्रियतामित्यर्थः । पात्रेसमित इत्यत्र "पात्रेसमितेत्यादयः" (सि० ३–१–९१) इत्यलुक्समासः । अत्र समासोक्तिसमुच्चयानुप्रासाः ॥ २१ ॥

मुग्धं स्निग्धं सितमतिजवं रिङ्खणं यत्र तत्र
प्रेक्षाचित्रं भुवि विलुठनं बन्धनं रिक्तमुष्टेः ।
उत्तानत्वे करचरणनं प्रोक्तमव्यक्तवर्णं
यानं पद्भ्यामनृजु शनकैर्यत्तदाकृष्टिकाङ्क्षा ॥ २२ ॥
आहूतस्याभिमुखमुभयापाणि दूरेण यानं
कण्ठाश्लेषः प्रणयिनि हठात् स्थानमङ्के जनन्याः ।
कूर्चाकर्षः पितुरिति कुतः प्राकृतार्भानुरूपं
दिव्यज्ञानत्रितयकलितोऽचेष्टथाश्चेदरागः॥२३॥युग्मम्॥

हे नाथ! 'चेत्' यदि त्वं 'अरागः' वीतरागो वर्तसे तदा इति 'प्राकृतार्भानुरूपं' प्राकृताः सामान्या अर्भा बालकास्तेषामनुरूपं योग्यं यथा भवति दिव्यज्ञानत्रितयकलितः सन् त्वं कुतः 'अचेष्टथाः' चेष्टसे स्म ?, इतीति किम् ? 'मुग्धं' मनोज्ञं 'स्निग्धं' स्नेहयुक् 'सितं' हास्यम्, 'अतिजवं रिङ्खणं' अत्यन्तवेगं रिङ्खणं बालगत्या गमनम्, 'यत्र तत्र' अभिमुखे यस्मिन् तस्मिन् पदार्थे 'प्रेक्षाचित्रं' वीक्षणकौतुकम्, 'भुवि विलुठनं' पृथिव्यां लोटनम्, 'रिक्तमुष्टेः' अन्तर्वस्तुविकलाया मुष्टेर्बन्धनम्, 'उत्तानत्वे' उत्तानभावे 'करचरणनं' करचरणयोः क्षेपणम्, अव्यक्तवर्णं 'प्रोक्तं' जल्पनम्, पद्भ्यां 'अनृजु' वक्रं 'शनकैः' मन्दं मन्दं 'यानं' गमनम्, 'यत्तदाकृष्टिकाङ्क्षा'

यत्तद्वस्त्वाकर्षणवाञ्छा, 'उभयापाणि अभिमुखमाहूतस्य दूरेण यानं' उभयाभ्यां पाणिभ्यां सम्मुखमाकारितस्य दूरं गमनम्, 'प्रणयिनि' स्निग्धे जने हठात् 'कण्ठाश्लेषः' कण्ठे विलगनम्, जनन्या 'अङ्के' उत्सङ्गे स्थानम्, पितुः 'कूर्चाकर्षः' स्पष्टम् । अत्र करचरणनं करचरणौ निरस्यति "अङ्गान्निरसने णिङ्" (सि० ३–४–३८) णिङ्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः, करचरण्यते स्म करचरणनम्, क्लीबे "अनट्" (सि० ५–३–१२४) अनट्प्रत्ययः, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिङ्लोपः । उभयाभ्यां पाणिभ्यां उभयापाणि "द्विदण्ड्यादिः" (सि० ७–३–७५) णिच्प्रत्ययः, उभयापाणि इति निपातः । अत्र जातिसमुच्चयसमासोक्त्यनुप्रासाद्याः ॥ २२ ॥ २३ ॥

एतत्सर्वं गुरुजनमनोमोदनार्थं यदि त्वं
तत्त्वं विन्दुः स्वयमकुटिलं स्वीचकर्थ प्रकामम् ।
इत्थङ्कारं कतिचन समा मन्मुदे दारकर्म
स्वीकृत्यैतत् किमुपजरसं नो तपस्तप्यसे स्म ॥ २४ ॥

हे नाथ ! यदि त्वं 'एतत्सर्वं' पूर्वकाव्यद्वयोक्तं बालक्रीडाकारणकलापं 'गुरुजनमनोमोदनार्थं' गुरवः पितृमात्रादयो गुरुजनाः तेषां मनोहर्षार्थं 'स्वयम्' आत्मना 'अकुटिलं' सरलं यथा भवति 'प्रकामं' अत्यर्थं 'स्वीचकर्थ' अङ्गीकृतवान् । किंविशिष्टस्त्वम्? 'तत्त्वं विन्दुः' परमार्थं विदन् 'इत्थङ्कारं' त्वं इत्थं अनेन प्रकारेण कृत्वा 'कतिचन समाः' कतिचन वर्षाणि 'मन्मुदे' मम हर्षाय 'दारकर्म' विवाहं स्वीकृत्य 'उपजरसं' जरायाः समीपे एतत्तपः किं न तप्यसे स्म? । अयं भावः—यथा सितादिका बालक्रीडा गुरुजनहर्षाय कृता एवं मम हर्षाय पाणिग्रहणं कृत्वा पश्चाद्यदि तपस्तप्तं स्यात्तदा भव्यमकरिष्यः । विन्दुरिति "विदक् ज्ञाने" विद् वेत्तीति विन्दुः "विन्द्विच्छू" (सि० ५–२–३४) उप्रत्यये विन्दुरिति निपातः ।

अस्वं स्वं चकर्थ स्वीचकर्थ "कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे च्विः" (सि० ७-२-१२६) च्विप्रत्ययः, "अप्रयोगीत्" (सि० १-१-३७) च्विलोपः, "ईश्च्वाववर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४-३-१११) ईकारः, कृधातोः परोक्षा-थवि चकर्थेति । इत्थंकारमिति इदं अनेन प्रकारेण इत्थम् "कथमित्थं" (सि० ७-२-१०३) इति इत्थं निपातः, इत्थं कृत्वा इत्थङ्कारम्, "*अन्यथैवंकथमित्थमः* कृगोऽनर्थकात्" (सि० ५-४-५०) णम्प्रत्ययः, "नामिनोऽकलिहलेः" (सि० ४-३-५१) वृद्धिः । उपजरसं जरायाः समीपे उपजरसम् "जराया जरस् च" (सि० ७-३-९३), "समासान्तः" (सि० ७-३-६९) अत्प्रत्ययः, जरास्थाने जरस् आदेशः, सप्तमी ङिः "सप्तम्या वा" (सि० ३-२-४) इति अम् । तप्यसे स्म इति "तपेस्तपःकर्मकात्" (सि० ३-४-८५) इतिसूत्रेण कर्तरि क्यप्रत्यय आत्मनेपदं च । अत्रानुप्रासममाद्याः ॥२४॥

त्रैलोक्येशः प्रथितम।हमा। चारुचक्षुष्यरूप-
स्तुल्योन्मीलद्गुणविकलया जातु मा मीमिले त्वम् ।
एवं बुद्ध्वा तपसि वदसे यत्कृते मुक्तिकान्तां
तां मन्येथा अपगुणतया दर्शनस्याप्यनर्हाम् ॥ २५ ॥

हे नाथ ! त्वं एवं बुद्ध्वा यत्कृते तपसि 'वदसे' यत्नं कुरुषे यस्या मुक्तेः कृते, एवमिति किम् ? अहमनया 'जातु' कदाचित् त्वं 'मा मीमिले' मा इति निषेधे न मेलयामीत्यर्थः।किंविशिष्टोऽहम् ? 'त्रैलोक्येशः प्रथितमहिमा' इति स्पष्टम्, पुनः किंरूपोऽहम् ? चारु मनोज्ञं चक्षुष्यं सुभगं रूपं यस्य सः । किंरूपयाऽनया ? 'तुल्योन्मीलद्गुणविकलया' तुल्या अधिकारादात्मनः सदृशा उन्मीलन्तो विकसन्तो ये गुणास्तैर्विकलया रहितया असौ मम गुणैर्न तुल्येति मां मुक्त्वा यस्या मुक्तेः कृते तपसि वदसे 'तां' मुक्तिकान्तां 'अपगुणतया' निर्गुणतया दर्शनस्यापि 'अनर्हां' अयोग्यां मन्येथाः, सा निर्गुणतया द्रष्टुमप्ययोग्या ।

पक्षे गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ते मुक्तौ न वर्तन्ते, ततोऽपगुणाऽरूपतया दर्शनाऽयोग्येत्यर्थः । मा मीमिले "मिलत् श्लेषणे" मिल् मिलन्तं प्रयुङ्क्ते "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (सि० ३–४–२०) णिग्, "नामिनो गुणोऽक्क्ङिति" (सि० ४–३–१) गुणः मे, "माङ्यद्यतनी" (सि० ५–४–३९) इतिसूत्रेण अद्यतनी इ, "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि०" (सि० ३–४–५८) ङप्रत्ययः, "उपान्त्यस्यासमानलोपि शास्वृदितो ङे" (सि० ४–२–३५) ह्रस्वः मि, "आद्योऽश एकस्वरः" (सि० ४–१–२) मि द्विः, "लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः" (सि० ४–१–६४) दीर्घः मी, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिग्लोपः, लोकात् "अवर्णस्येवर्णा०" (सि० १–२–६) इति सिद्धम् । वदसे इत्यत्र "दीप्तिज्ञानयत्नविमत्युपसम्भाषोपमन्त्रणे वदः" (सि० ३–३–७८) इत्यात्मनेपदम् । अत्र विषमानुप्रासश्लेषव्याजस्तुत्यलङ्काराः ॥ २५ ॥

प्रागानन्त्यैर्नृभिररमि या निर्गुणा चाकुलीनाऽ-
दृश्याङ्गश्रीरभिजनघनोच्छेदिनी रागरिक्ता ।
सक्तस्तस्यां सकलललना निर्वृतीत्याख्ययैवाऽ-
भीकोत्तंसस्त्यजसि यदि तत्संसृतौ न स्थितिस्ते ॥२६॥

'या' मुक्तिकान्ता प्राग् 'आनन्त्यैः' अनन्तैः 'नृभिः' पुरुषैः 'अरमि' रमयामासे, किंरूपा या? 'निर्गुणा' लावण्यादिगुणरहिता 'अकुलीना' न सुकुलोत्पन्ना, पुनः कथंभूता? 'अदृश्याङ्गश्रीः' द्रष्टुमयोग्या अङ्गस्य देहस्य श्रीः शोभा यस्याः, पुनः अभिजनं गोत्रं घनं शरीरं च उच्छिनत्तीत्येवंशीला, पुनः 'रागरिक्ता' रागविवर्जिता एवंविधा कान्ता सदूषणा भवति, पक्षे या मुक्तिः प्राग् आनन्त्यैर्नृभिः सिद्धरूपैः अरमि अनन्तसिद्धानां तत्र स्थितत्वात्, निर्गुणा सत्त्वादिगुणत्रयविकला, अकुलीना, अदृश्या अङ्गश्रीः अङ्गशोभा यस्यां सा, मुक्तेः शिलारूपत्वाद्विशिष्टाङ्गोपाङ्गाभावः, अभिजनघनोच्छेदिनीति मुक्तौ

ग्राप्तायां गोत्रं शरीरं च व्यवच्छिद्यते, सिद्धानामशरीरत्वात् । राग-रिक्तेति स्पष्टमेव । हे नाथ! यदि त्वं निर्वृतीत्याख्ययैव तस्यां सक्तः सन् सकलललनास्त्यजसि, मुक्तेर्निर्वृतिनाम, निर्वृतिस्तु समाधिः कथ्यते, अतस्तेन नाम्नैवानुरक्तः सन् सर्वस्त्रीः परिहरसि तत् 'ते' तव 'संसृतौ' संसारे 'न स्थितिः' न स्थानं वर्तते मुक्तावेवेत्यर्थः, एवमुक्ते निन्दास्तुतिर्ज्ञेया । किंविशिष्टस्त्वम् ? 'अभीकोत्तंसः' अभीकाः कामिनस्तेषामुत्तंसो मुकुटः, यतस्त्वं निर्गुणायामपि तस्यामनुरक्तोऽतो गाढतरः कामीति । पक्षेऽभीका निर्भयास्तेषामुत्तंसः । आनन्त्येति अनन्ता एव आनन्त्याः "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" (सि० ७–२–१६४) ट्यण्प्रत्ययः य इति "वृद्धिः स्वरेष्वादिः" (सि० ७–४–१) वृद्धिः । अरमीति रममाणा प्रयुज्यते स्म णिग् "ञ्णिति" (सि० ४–३–५०) वृद्धिः रा, "अमोऽकम्यमिचमः"(सि० ४–२–२६) ह्रस्वः, अद्यतनी त इति । अत्र व्याजस्तुतिश्लेषाद्याः ॥ २६ ॥

वैरुद्ध्यं चेन्मनसि मनुषे स्त्रीषु तत् किं न पौंस्ने
त्वं भद्राम्भोनिधिरपि गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रः ।
सर्वत्रैषा यदि तव पुरोभागितैवाथ युक्ता
शीर्षच्छेद्या अपि तदपि वै स्मरतानामवध्याः ॥ २७ ॥

हे नाथ ! त्वं चेत् 'स्त्रीषु' स्त्रीविषये मनसि वैरुद्ध्यं 'मनुषे' जानासि, विरुद्धस्य भावो वैरुद्ध्यम्, स्त्रियो मायातुच्छतादिदोषैर्विरुद्धा इति जानासि इत्यर्थः, तत् पौंस्ने वैरुद्ध्यं किं न मनुषे ?, पुंसां समूहे पौंस्ने, अतः पुंसोऽपि विरुद्धान् किं न जानासि ?, पुमांसोऽपि विरुद्धा विषमाचारा इत्यर्थः । वैरुद्ध्यमेव पुरुषेष्वपि युक्त्या स्पष्टयति–त्वं 'भद्राम्भोनिधिरपि' भद्राणां कल्याणानां समुद्रोऽपि पञ्चसङ्ख्यानि भद्राणि पञ्चभद्राणि, पञ्चभद्राणां भावः पञ्चभद्रत्वम्, तस्य मुद्रा मर्यादा पञ्चभद्रत्वमुद्रा, गलन्ती

च्यवमाना पञ्चभद्रत्वमुद्रा यस्य सः, यो भद्राणां समुद्रः एतावता सर्वभद्राणां स्थानं भवति तस्य पञ्च भद्राणि कथं गलन्तीति विरोधः। अथ विरोधपरिहारमाह—त्वं भद्राम्भोनिधिरपि गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रः, पञ्चभद्रस्तु विप्लुतव्यसनीत्यर्थः, तस्य भावः पञ्चभद्रत्वं व्यसनित्वम्, गलन्ती पञ्चभद्रत्वमुद्रा यस्य सः, एतावता त्वं व्यसनी न वर्तसे निर्विकारोऽसीत्यर्थः । 'अथ' अनन्तरं यदि तव सर्वत्रैषा पुरोभागितैव युक्ता, "दोषैकदृक् पुरोभागी" (अभिधान० ३–४४) यो गुणान्मुक्त्वा केवलं परस्य दोषानेव पश्यति स पुरोभागी कथ्यते, अतस्त्वमपि स्त्रीषु गुणान्मुक्त्वा केवलान् दोषानेव पश्यसीत्यर्थः, अथवा तव सर्वत्र पुरोभागितैव अग्रेसरतैव युक्ता तदपि 'वै' निश्चितं 'सूरतानां' कृपालूनां 'शीर्षच्छेद्याः' वधार्हा अपि 'अवध्याः' अघात्याः । अयमर्थः—यद्यपि सदोषत्वेन दण्डयोग्याः स्मः तदापि दयालूनां वध्या न भवामः किन्तु अनुकम्प्या एव । पौंस्ने इति पुंसां समूहः पौंस्नम् "प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ्स्नञ्" (सि० ६–१–२५) स्नञ्प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वादेः" (सि० ७–४–१) वृद्धिः पौं, "पदस्य" (सि० २–१–८९) सलोपः, "शिड्ढेऽनुस्वारः" (सि० १–३–४०) अनुस्वारः । शीर्षच्छेदमर्हन्ति शीर्षच्छेद्याः "शीर्षच्छेदाद् यो वा" (सि० ६–४–१६४) यप्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) अवर्णस्य लोपः । अत्र विरोधश्लेषाद्याः ॥ २७ ॥

कामः कामं विषमविशिखैरेष जेघ्नीयते यत्
यद्वा मन्युः परिभवभवो मां सपत्राकरोति ।
निर्वीराऽसौ तदहमबलाऽसासहिः पापतिश्चेत्
निश्चैतन्यान्नवतिपुरुषीं खातिकां स्याच्तदा किम्? ॥२८॥

हे नाथ! यद् एष कामः 'कामं' अत्यर्थं 'विषमविशिखैः'

विषमबाणैः 'जेघ्नीयते' अत्यर्थं हन्ति, 'यद्वा' अथवा 'परिभवभवः' पराभवोत्पन्नः 'मन्युः' क्रोधो मां 'सपत्राकरोति' अत्यन्तं व्यथते, तद् 'असौ' अहं 'चेत्' यदि 'असासहिः' अमर्षशीला सती 'निश्चैतन्यात्' अचेतनावस्थातः 'नवतिपुरुषीं' नवतिपुरुषप्रमाणां खातिकां 'पापतिः' पतनशीला स्यां तदा किं स्यात्?, एतावताऽतीवासदृशं भवेदित्यर्थः। किंरूपाऽहम्? 'निर्वीरा' निष्पतिसुता (तथा 'अबला' बलरहिता) अतो मम सारा कर्तुं युक्तेति रहस्यम्। अत्र सपत्राकरोतीति सपत्र अग्रे कृग् "सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने" (सि० ७-२-१३८) डाप्रत्ययः। असासहिः पापतिः इति "षहि मर्षणे" षह्, धात्वादेः षः सः सह्, "पत्लृ पथे गतौ" पत्, भृशं पुनः पुनर्वा सहते पततीति "व्यञ्जनादेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा" (सि० ३-४-९) यङ्प्रत्ययः, "सन्यङश्च" (सि० ४-१-३) द्विः, "आगुणावन्यादेः" (सि० ४-१-४८) आ, सासह्यते पापत्यते इत्येवंशीला "ङौ सासहिवावहिचाचलिपापतिः" (सि० ५-२-३८) ङिप्रत्यये सासहिः पापतिरिति निपातः, न सासहिरसासहिः। निश्चैतन्यादिति चैतन्यस्याभावो निश्चैतन्यम् "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्संपत्साकल्यान्तेऽव्ययम्" (सि० ३-१-३९) अनेन सूत्रेणाभावे निर्मक्षिकवदव्ययीभावः समासः, पञ्चमी ङस् "अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः" (सि० ३-२-२) इत्यत्र पञ्चमीवर्जनात् ङसेरम् न। नवतिः पुरुषाः प्रमाणं यस्याः सा नवतिपुरुषी "हस्तिपुरुषाद्वाऽण्" (सि० ७-१-१४१) अण्प्रत्ययः, "मानादसंशये लुप्" (सि० ७-१-१४३) अण्लोपः, "पुरुषाद्वा" (सि० २-४-२५) ङीप्रत्ययः। अत्रानुप्रासहेत्वतिशयोक्त्याद्याः॥ २८॥

कर्पूरं कर्षूमिव निवसितं सद्दुकूलं कुकूलं
ग्लावं दावं नलिनमलिनं भूषणं त्र्यूषणं वा।

सर्वं सर्वङ्कषविषमसौ मन्यतेऽनन्यनेमौ
नेमौ नेमौ भवति भवति स्पष्टमाशालतायाः ॥ २९ ॥

हे नाथ! 'असौ' राजीमती 'कर्षूं' नदीं 'कर्षूमिव' अङ्गारपरिखामिव मन्यते, एतावता शीतलाऽपि नदी तस्या विरहतापप्राचुर्यादङ्गारपरिखाप्राया भवतीति, सर्वत्रापि विरहतापप्राबल्यमेव हेतुः। तथा 'निवसितं' परिहितं 'सत्' प्रधानं 'दुकूलं' क्षौमं 'कुकूलं' तुषानलं मन्यते, 'ग्लावं' चन्द्रं दावम्, 'नलिनं' कमलं 'अलिनं' वृश्चिकं पीडाकृत्त्वात्, वा इवार्थे, 'भूषणं' आभरणं 'त्र्यूषणं' त्रिकटु मन्यते इति सर्वत्र सम्बन्धः, यथा त्रिकटु भक्षितं तीव्रत्वाद्व्यथाकृद्भवति तथा आभरणमपि विरहेणाप्रियत्वाद्व्यथाकारीति, किं बहुना? 'सर्वं' पुष्पताम्बूलखाद्यस्वाद्यादि सर्वङ्कषविषं मन्यते सर्वं कषति हिनस्तीति सर्वङ्कषं सर्वघातकमित्यर्थः। क सति? 'भवति' त्वयि 'नेमौ' नेमिनाथे 'स्पष्टं' प्रकटम् आशालताया 'नेमौ' चक्रधारायां 'भवति' जायमाने सति, किंविशिष्टे भवति? 'अनन्यनेमौ' नान्यान्नमतीत्येवंशीलस्तस्मिन्, तीर्थङ्कराणां त्रिभुवननम्यत्वादन्यः कोऽपि नम्यो नास्तीति। नेमिरिति नामग्रहणेन त्वां विनाऽन्यः कोऽपि विरहतापे कारणं नास्ति किन्तु त्वमेवेति ज्ञापनार्थम्। सर्वङ्कषेति "कष हिंसायां" सर्वं कषतीति "सर्वात्सहश्च" (सि० ५-१-१११) खल्प्रत्ययः, "खित्यनव्ययारुषोर्मोऽन्तो ह्रस्वश्च" (सि०३-२-१११) इति मोऽन्तः। अनन्यनेमाविति "णमं प्रह्वत्वे" णम् पाठे नम्, भृशं पुनः पुनर्वा नमति "व्यञ्जनादेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा" (सि० ३-४-९) यङ्, द्वित्वम्, "मुरन्तोऽनुनासिकस्य" (सि० ४-१-५१) इति मुआगमः, न अन्यं नंनम्यते इत्येवंशीलः "सस्रिचक्रिदधिजज्ञिनेमिः" (सि० ५-२-३९) इति ङिप्रत्यये नेमिरिति पदम्। अत्रोपमारूपकसमुच्चयातिशयोक्तिदीपकानुप्रासाद्याः ॥ २९ ॥

अध्यारोप्य द्विरसनसनानन्द्यमादीनवं मां
दीनां किञ्चिद्दवयसि यदि प्राणितेशोचितं तत् ।
कौलीनाङ्कं ध्रुवमितरथा लप्स्यसे लोकनाथ!
व्याजान्नाना ननु तनुमतां नो निहन्त्यर्कजोऽपि ॥३०॥

'हे प्राणितेश' हे जीवितव्यनाथ! यदि त्वं मां किञ्चित् 'आदीनवं' दोषमध्यारोप्य 'दवयसि' परितापयसि तत् 'उचितं' योग्यम्। अयमर्थः—इयं राजीमती अनेन कुरूपकुवादिकुशीलादिदोषेण दुष्टाऽस्ति अतस्त्यज्यते इत्यर्थः । किंरूपमादीनवम् ? 'द्विरसनसनानन्द्यं' द्विरसनैः दुर्जनैः सना सर्वदा नन्द्यं श्लाघ्यम्, दुर्जना यं दोषमुच्चरन्तस्तिष्ठन्ति । हे लोकनाथ ! 'इतरथा' अन्यथा 'कौलीनाङ्कं' कौलीनम् अपवादः तदेव अङ्कं लाञ्छनं 'लप्स्यसे' प्राप्स्यसि, अनेन निर्दूषणा सती परिणीय त्यक्तेति ध्रुवमनुचित इति । अत्र दृष्टान्तमाह—नन्विति वितर्के, 'व्याजात् नाना' व्याजं मिषं नाना विना, 'अर्कजोऽपि' यमोऽपि 'तनुमतां' प्राणिनां नो निहन्ति, एतावता यमोऽपि केनचिन्मिषेणैव जन्तून् हन्ति, यथाऽस्य ज्वरश्चटितः मूढविसूचिका सन्निपातो वा जातः तेन मृत इति, एवं त्वमपि यदि किञ्चिद्दूषणं प्रकाश्य मां त्यजसि तदा लोके प्रवादं न लभस इति भावः । अध्यारोप्येति "रुहं जन्मनि" अधिआङ्पूर्वः, अध्यारोहन्तं प्रयुङ्क्ते "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्"(सि० ३-४-२०) णिग् "लघोरुपान्त्यस्य" (सि०४-३-४) रो, "रुहः पः" (सि० ४-२-१४) हकारस्य पकारः, अध्यारोपणं पूर्वं "प्राक्काले" (सि० ५-४-४७) क्त्वाप्रत्ययः, "अनञः क्त्वो यप्" (सि० ३-२-१५४) यप्रत्ययः । दवयसीति दवं ददासीति "णिज्बहुलं नाम्नः०" (सि० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः । व्याजान्नानेति "पृथग्नाना पञ्चमी च" (सि० २-२-११३) इति पञ्चमी । तनुमतामित्यत्र निपूर्व-हन्तेर्योगे "निप्रेभ्यो घ्नः"(सि०२-२-१५) इतिसूत्रेण कर्मविकल्पात् षष्ठी। अत्रानुप्रासदृष्टान्ताद्याः ॥३०॥

नो प्रत्यक्षानुमितिसमयैर्लक्ष्यमाणः प्रमाणैः
त्यागं कुर्वन्नसुखमपुषस्तावदुच्चैर्ममेश ! ।
संस्कारेण स्मृतिमुपगतः क्लेशदेष्टाऽसि यावत्
निष्प्रामाण्या स्मृतिरिति गदन्नक्षपादो न दक्षः ॥ ३१ ॥

हे नाथ! 'अक्षपादः' नैयायिकगुरुः न दक्षः, किं कुर्वन्? स्मृतिः 'निष्प्रामाण्या' निर्गतं प्रामाण्यं प्रमाणत्वं यस्याः सा, एतावता स्मरणमप्रमाणमिति ('गदन्') वदन्, अक्षपादमते हि स्मरणमप्रमाणं कथ्यते। यतस्ते एवमनुमानयन्ति—स्मरणज्ञानमप्रमाणम्, अन्यत्रान्यत्रान्यस्यानुभूयमानत्वात्, विपर्ययज्ञानवत्, यथा शुक्तिकाशकले कलधौतमिदमिति ज्ञानमप्रमाणम्, तथा स्वप्नज्ञानमपि न प्रमाणं कथयन्ति तस्मादेव हेतोः, यतः—"जन्मन्येकत्र भिन्ने वा, तथा कालान्तरेऽपि वा । तद्देशे चान्यदेशे वा, स्वप्नज्ञानस्य गोचरः ॥१॥" इति । ततो राजीमती स्मरणस्य प्रामाण्यं स्थापयन्ती तद्दक्षत्वं दूषयति, कथम्? आह—नो प्रत्यक्षेति 'ईश' हे स्वामिन्! त्वं प्रत्यक्षानुमितिसमयैः प्रमाणैः त्यागं कुर्वन् लक्ष्यमाणः तावत् 'उच्चैः' अतिशयेन मम 'असुखं' दुःखं 'नो अपुषः' न पुष्टवान्, एतावता किमुक्तं भवति? यदा पाणिग्रहणार्थं तोरणमागत्य प्रत्यावृत्तः तदा मया गवाक्षस्थितया प्रत्यक्षप्रमाणेन त्यागं कुर्वन् लक्षितः, यदा तु वादित्रेषु वाद्यमानेषु देवदानवमानववृन्दानुगम्यः प्रव्रज्यायै गिरिनारं गतस्तदाऽनुमानप्रमाणेन ज्ञातम्—अथाहं त्यक्तैव, यतो यो यो दीक्षाग्राही स स कान्तापरिहारकारी, निःसङ्गत्वात्, यथा वृषभादिः, दीक्षाग्राही चायम्, तस्मात्कान्तापरिहारकार्येवेत्यनुमानम्। अथ यदा सख्यादिपरिजनो वार्तां करोति श्रीनेमिना राजीमतीं परिहृत्य दीक्षा गृहीता तदाऽऽप्तवचनरूपेण प्रमाणेन त्यागं कुर्वन् लक्षितः। एतावता प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैस्त्यागं कुर्वन् ज्ञायमानस्त्वं तादृग्दुःखं न दत्तवान्। अग्रेतनमाह—त्वं यावत् 'संस्कारेण

स्मृतिमुपगतः क्लेशदेष्टाऽसि' संस्कारः पूर्वानुभवः तेन यदा स्मर्यसे स्मृतेः संस्कारजत्वात् तदा यावत् क्लेशदेष्टा क्लेशदाताऽसि, वियोगो हि स्मर्यमाणः सन् पूर्वानुभवादपि गाढमन्तःशल्यवद्व्यथते, अतः स्मरणस्य कथमप्रामाण्यम्? अन्यप्रमाणेभ्यस्तस्य गाढतरदुःखसम्यगनुभवसाधनत्वात्, अतः स्मरणं प्रमाणम्, सम्यग्दुःखानुभवसाधनत्वात्, प्रत्यक्षादिवत्। क्लेशदेष्टेति "दिशींत् अतिसर्जने" दिश्, क्लेशं दिशतीत्येवंशीलः "तृन् शीलधर्मसाधुषु" (सि० ५-२-२१) तृन्प्रत्ययः। अत्र हेतुपर्यायोक्त्यनुप्रासाद्याः ॥ ३१ ॥

क्लेशाविष्टे प्रमुदितमतिर्दीर्घतृष्णे वितृष्णो
मूढे मूढेतरपरिवृढस्तापिते निर्वृतात्मा।
व्यक्तं रक्ते वसति हृदये चेद्विरक्तो ममेशा-
ऽऽधाराधेये तदुपचरिते केन भेदेतरेण? ॥ ३२ ॥

हे नाथ! 'तत्' तस्मात्कारणात् केन पुरुषेण आधाराधेये 'भेदेतरेण' अभेदेन उपचरिते ?, दक्षा उपचारेण आधाराधेययोरभेदं मन्यन्ते, यथा—मञ्चाः क्रोशन्ति, अत्र मञ्चानां क्रोशनं न संभवति अचेतनत्वात्, परं मञ्चोपविष्टाः पुरुषाः क्रोशन्ति, उपचारेण पुरुषैः सह मञ्चानामभेदं विवक्ष्य मञ्चाः क्रोशन्तीत्युच्यते, राजीमती तद्दूषयति—यद् आधाराधेययोरुपचारेणापि अभेदो न युक्तः किन्तु भेद एव, कस्मात्? तदाह—हे 'ईश' स्वामिन्! 'चेत्' यदि त्वं मम हृदये वससि, क्रमेण हृदयस्य भगवतश्च विशेषणैर्वैसदृश्यमाह—किंरूपे मम हृदये? 'क्लेशाविष्टे' क्लेशैः दुःखैराविष्टे व्याप्ते। किंरूपस्त्वम्, 'प्रमुदितमतिः' प्रमुदिता प्रकर्षेण मुदिता हर्षमयी मतिः बुद्धिर्यस्य सः। पुनः कथंभूते हृदये? 'दीर्घतृष्णे' दीर्घा अत्यन्तप्रौढा तृष्णा विषयवाञ्छा यस्मिंस्तत् (तस्मिन्) त्वं तु 'वितृष्णः' विगता तृष्णा यस्यासौ, सर्वथाऽपि सांसारिकभोगादिवाञ्छाविरहितत्वात्। पुनः कथंभूते हृदये?

'मूढे' कार्याकार्यज्ञानरहिते, त्वं तु 'मूढेतरपरिवृढः' मूढेभ्य इतरे अमूढा दक्षास्तेषां परिवृढः स्वामी । पुनः किंरूपे हृदये ? 'तापिते' विरहतापेन प्रज्वलिते, त्वं तु 'निर्वृतात्मा' सर्वदुःखविगमान्निर्वृतः शीतल आत्मा यस्य सः । पुनः किंविशिष्टे हृदये ? 'रक्ते' कामरागव्याप्ते, त्वं तु विरक्तः सामस्त्येन नीरागत्वात् । अतो मम हृदयमाधारः त्वं तु आधेयः, हृदयस्य तव च सर्वप्रकारैः पार्थक्यमेवास्ति, अत उपचारेणापि आधाराधेययोरभेदो न युक्तः किन्तु भेद एव, एतावता निजहृदो बाढं वियोगदुःखं ज्ञापितम्, भगवतश्च परिपूर्णसंतोषसुखमयत्वम् । अत्र विषमपर्यायोक्त्याद्याः ॥३२॥

गोत्रस्यादावशकलपुरे चावरं वर्णमग्र्यो-
ज्जाग्रद्वर्णामुपतदमपि त्वं तु नातिष्ठपो माम् ।
शीलं यद्वोन्नतिमत इदं जात्यवर्णानपेक्षं
मेरुर्नाम्ना वहति शिरसा चैतमुन्नीलचूलः ॥ ३३ ॥

हे नाथ ! त्वं 'गोत्रस्य' अन्वयस्य 'आदौ' धुरि 'अशकलपुरे च' अशकलपुरं नगरं तत्र च 'अवरं वर्णं' चरमं नीचं वर्णं शूद्रं वर्णं 'अतिष्ठपः' स्थापयसि स्म, 'तु' पुनर्मां 'उपतदमपि' तस्य गोत्रस्य पुरस्य च समीपे न अतिष्ठपः, किंविशिष्टां माम् ? 'अग्र्योज्जाग्रद्वर्णा' अग्र्यः प्रधानः उत् प्राबल्येन जाग्रत् शोभमानो वर्णः क्षत्रियरूपो यस्याः सा ताम्, एषा तावद्युक्तिर्न यन्नीचो वर्णो वंशस्य नगरस्य च धुरि विनिवेश्यते उत्तमवर्णश्च दूरे क्रियते । अथ मुख्योऽर्थः— त्वं 'गोत्रस्य' नाम्न आदौ 'अवरं' वरः प्रधानोऽवरः अप्रशस्यस्तमवरम् अप्रशस्यं 'वर्णं' अक्षरं नकारलक्षणमतिष्ठपः स्थापिवान्, तथाऽशकले समस्ते पुरे शरीरेऽवरम् अप्रशस्यं वर्णं कृष्णलक्षणं रूपं स्थापितवान्, तु पुनर्माम् उपतदमपि तस्य नाम्नः शरीरस्य च समीपे नातिष्ठपः न स्थापितवान्, एतावता नाम्नोऽक्षरैरपि संबन्धो न कृतः शरीरेणापि च संबन्धो न विहितः, किंरूपां माम् ? 'अग्र्यो-

'जाग्रद्वर्णां' अग्र्याः प्रधाना उत् प्राबल्येन जाग्रतः शोभमाना वर्णा राजीरूपाः प्रशस्ता नाम्नि यस्याः, अथवा जाग्रद्वर्णो गौरनामा प्रशस्तः शरीरे यस्याः सा ताम् । 'यद्वा' अथवा 'उन्नतिमतः' औन्नत्य-जुषः इदं शीलं सहजम्, किंरूपम् ? 'जात्यवर्णानपेक्षं' जात्यं उत्तमं वर्णं न अपेक्षते उत्तमवर्णापेक्षारहितमित्यर्थः । अत्र निदर्शनमाह—मेरुः नाम्ना शिरसा च 'एतं' अवरं वर्णं वहति, किंरूपो मेरुः ? 'उन्नी-लचूलः' उत् ऊर्ध्वं नीला चूला यस्य सः, कोऽर्थः ? मेरुरपि औन्न-त्यशाली वर्तते सोऽपि नाम्न आदौ मकारमप्रशस्तं वर्णमक्षरं शिरसा चाप्रशस्तं चूलास्थितं नीलं वर्णं वहति । उन्नतिः ऊर्ध्वप्रमाणगुरुता उत्कृष्टगुणगुरुता च, अतो महतां चरित्रं न विचार्यमेवेत्युपहासो व्यङ्ग्यः । अत्र विषमश्लेषार्थान्तरन्यासनिदर्शनानुप्रासाद्याः ॥ ३३ ॥

आसीदाशेत्यमम ! महिषी प्रीतये ते जनिष्ये
श्यामा क्षामा त्वकृषि विधिना प्रत्युतोषोत्प्रदोषा ।
पश्याम्येवं यदि पुनरजात्मत्वमप्यापयिष्ये
मूलात्कर्मप्रकृतिविकृतीः सर्वतोऽपि प्रकृत्य ॥ ३४ ॥

हे अमम ! मम इति आशा आसीत् अहं 'ते' तव प्रीतये महि-षी 'जनिष्ये' भविष्यामि । पूर्वं प्रसिद्धतिर्यग्भेदेनैव श्लेषमाह— ततो महिषी प्रसिद्धा तिर्यग्जातौ प्रत्युतेति पक्षान्तरे 'तु' पुनर् 'विधिना' दैवेन 'श्यामा' कृष्णा 'क्षामा' दुर्बला 'उषा' गौः 'अकृषि' कृता, किंविशिष्टा उषा ? 'उत्प्रदोषा' उद्गताः प्रकृष्टा दोषा यस्याः सा । अथैवं पश्यामि—'यदि पुनः' इति विकल्पान्तरे, अहं विधिना 'अजात्मत्वं' छागिकात्वमपि आपयिष्ये, दैवं मां छागिकामपि करि-ष्यतीति भावः, किं कृत्वा ? 'मूलात्' आदितः 'सर्वतोऽपि' सर्वैः प्रकारैरपि 'कर्मप्रकृतिविकृतीः प्रकृत्य' प्रारभ्य कर्म वाहदोहा-दिकं प्रकृतिः तिर्यक्स्वभावः विकृतिः अज्ञानमोहादिका विका-रास्तान्, एतावता महिष्यां गवि च याः कर्मप्रकृतिविकृतयोऽभवन्

अजात्वेऽपि ता एव मूलतः प्रारब्धाः । अथ मुख्यार्थः—हे अमम ! मम इति आशा आसीत् यदहं 'ते' तव प्रीतये 'महिषी' कृताभिषेका राज्ञी 'जनिष्ये' भविष्यामि, 'तु' पुनरहं 'विधिना' दैवेन 'श्यामा' अप्रसूता स्त्री अकृषि कृता, किंरूपा ? 'उषोत्प्रदोषा' उषावत् रात्रिवत् उत्प्रदोषा, रात्रिपक्षे उत् प्रबलः प्रदोषो मुखं यस्याः सा "प्रदोषो यामिनीमुखं" (अभि० २-५८) द्वितीयपक्षे पूर्ववदुद्गताः प्रबला दोषा मायादयो यस्यां सा, अपुत्रा हि स्त्री उत्तमकार्येषु नाग्रे क्रियते । अथैवं पश्यामि यदि पुनर् 'अजात्मत्वमपि' सिद्धस्वरूपभावमपि विधिना आपयिष्ये, विधिपरिणामो हि तादृग् दृश्यते यादृशाऽहं सिद्धस्वरूपमपि लप्स्ये भवता सर्वथा त्यागात्, निष्पतिसुतानां वनितानां च व्रतकष्टानामेवोचितत्वेन सिद्धत्वोपलब्धेः । किं कृत्वा ? मूलात् आदितः कर्मप्रकृतिविकृतीः सर्वतोऽपि सर्वप्रकारैरपि प्रकृति १ स्थित्य २ नुभाग ३ प्रदेश ४-लक्षणैरपि प्रकृत्य प्रकर्षेण च्छित्त्वा । कर्मणां प्रकृतयो मुख्यभेदा अष्टौ ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीयाऽऽ४ यु ५-र्नाम ६ गोत्रा ७ ऽन्तरायाऽ८ भिधाः । विकृतयस्तु भेदानामपि भेदाः क्रमेण पञ्च—नव—द्व्य—ष्टाविंशति—चतु—स्त्र्युत्तरशत—द्वि—पञ्चसङ्ख्याः । प्रकृत्येति पूर्वं कृग्धातोः प्रयोगः प्रोपसर्गः प्रारम्भार्थः, द्वितीयपक्षे "कृतैत् छेदने" इति धातुः । अत्र श्लेषातिशयोक्तिभाविकानुप्रासाद्याः । तत्र "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः, क्रियन्ते भूतभाविनः । तद्भाविकम्" ॥ ३४ ॥

यावज्जीवं मदुपहितहृज्जीवितेनः शयेन
प्रेम्णा पास्यत्यमृतमपि मे विघ्नमासीत्पुरेति ।
प्रव्रज्यायाः पुनरभिलषंस्तन्मुखेनामुचन्मां
ज्ञानश्रीयुक् तदथ कमितोन्मुच्य तां तन्नमोऽस्तु ॥३५॥

हे नाथ ! मया इति 'पुरा' पूर्वं 'विघ्नं' विचारितमासीत्,

इतीति किम्? 'जीवितेनः' प्राणनाथो यावज्जीवं 'प्रेम्णा' स्नेहेन 'अमृतमपि' पानीयमपि मम 'शयेन' हस्तेन पास्यति, किंविशिष्टः? 'मदुपहितहृत्' मयि उपहितं न्यस्तं हृत् हृदयं येनासौ। पुनः 'प्रव्रज्यायाः' दीक्षाया मुखेन 'तत्' अमृतम् अभिलषन् सन् माम् अमुचत्, अमृतं स्वादयाचितम्, दीक्षाधारिणो हि अयाचितव्रता भवन्ति। 'अथ' अनन्तरं त्वं 'ज्ञानश्रीयुक्' ज्ञानलक्ष्मीयुक्तः सन् 'तां' दीक्षामुन्मुच्य 'तत्' अमृतं कमिता अमृतं मोक्षं कमिता अभिलषिष्यसि (षिता), अथो दीक्षायाः फलं मोक्षं कामयिष्यसे इत्यर्थः। यद्यपि "मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात् भगवतो मोक्षं प्रत्यपि कामो नास्ति तथापि मोक्षं प्रति प्रवृत्तत्वात्तत्कामो विवक्षितः। 'तत्' तस्मात्कारणात् ते तुभ्यं नमोऽस्तु, अत्रेर्ष्यायां नमः, ईर्ष्याऽपि अनवस्थितत्वाभासज्ञापनात्। अत्र यथासङ्ख्यभाविकपर्यायोक्तदीपकव्याजस्तुतिश्लेषाद्याः। अमृतं पानीयमयाचितव्रतं मोक्षश्चेति श्लेषमूलम्॥ ३५॥

काष्ण्योत्पादात्स्वजनवदनेऽतानि वर्णस्य तुल्यं
कृत्यं चाशाव्रततिनिकरोत्कर्तनान्नाथ! नाम्नः।
अर्थादर्थान्तरमभियता द्राग्यथा चान्वयस्या-
सत्कर्मेभप्रमथसमये कारि मा मातुरित्थम्॥ ३६॥

हे नाथ! त्वया स्वजनवदने काष्ण्योत्पादात् वर्णस्य तुल्यं कृत्यमतानि, कृष्णस्य भावः काष्ण्यं कालिमा स्वजनमुखे तद् उत्पादयता यादृशो निजो वर्णः शरीरसत्कः कृष्णरूपस्तस्य 'तुल्यं' समानं 'कृत्यं' कार्यं अतानि विस्तारयामासे, एवावता स्वजनमुखानि दुःखेन कृष्णवर्णानि कृतानीत्यर्थः। 'च' अन्यत् हे नाथ! यथा त्वया आशाव्रततिनिकरोत्कर्त्तनात् नाम्नस्तुल्यं कृत्यमतानि। अत्र संदेशकथनप्रसक्तत्वात् राजीमती स्वाः एवाशाः विवक्षते, अहं नाथं परिणेष्यामि भोगान् भोक्ष्ये पट्टराज्ञी भविष्यामि इति आशा वा-

च्छास्ता एव व्रतत्यो वल्लयस्तासां निकरः समूहस्तस्योत्कर्त्तनं छेदनं तस्मात् नाम्नस्तुल्यं नाम अरिष्टनेमिस्तस्य तुल्यं कार्यमकारि, एतावता यथा चक्रधारा वल्लीश्छिनत्ति तथा त्वया ममाशाश्छिन्नाः । तथा यथा च त्वया 'द्राक्' शीघ्रं 'अर्थात्' कार्यात् 'अर्थान्तरं' कार्यान्तरं 'अभियता' गच्छता 'अन्वयस्य' वंशस्य तुल्यं कृत्यमतानि, कोऽर्थः ? परमेश्वरस्य वंशो हरिवंशस्ततो हरिशब्दस्य बह्वर्थेष्वपि प्रवृत्तस्यार्थानुलोम्यात् कपिं विवक्ष्य कथयति— यथा हरिः कपिः एकं कार्यं तरुशाखाचटनादिरूपमर्धकृतमेव मुक्त्वा चापल्यतो झटिति अन्यतरुचटनादिकार्यं प्रारभते तथा त्वमपि मद्विवाहकार्यमर्धकृतमेव मुक्त्वा संयमरूपं कार्यान्तरं झटिति प्रतिपन्नवान् । हे नाथ ! यथा निजवर्णनामवंशसदृशानि कार्याणि कृतानि इत्थं त्वया असत्कर्मेभप्रमथसमये मातुस्तुल्यं कृत्यं मा कारि, अयं भावः—परमेश्वरस्य माता शिवा, शिवाशब्देन शृगाली कथ्यते, ततो यथा शृगाली गजान् दृष्ट्वैव पलायते तत्पराजयकथा दूरेऽस्तु, एवं त्वमपि असत्कर्माणि दुष्कर्माणि तान्येव इभा हस्तिनस्तेषां प्रमथो विनाशस्तस्य समये प्रस्तावे मातुस्तुल्यं कृत्यं मा कारीति शिवावन्न नंष्टव्यम् । यदि दीक्षा गृहीता तदा दुष्कर्मकरीन्द्रदलनावसरे शिवासुतवद्भीरुणा न भाव्यं किन्तु सिंहीपुत्रेणेव धीरेण भाव्यम्, सिंहपराक्रमेण चारित्रं प्रतिपाल्यमित्यर्थः, इति सर्ववाचिकान्ते परिणामसुन्दरवाचिकं बाढं दीर्घदर्शित्वं व्यनक्ति । अत्र कार्ष्ण्येति कृष्णस्य भावः कार्ष्ण्यम् "पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च" (सि० ७–१–६०) ष्यण्प्रत्ययः, य इति । अत्र समुच्चयदीपकश्लेषपर्यायोक्त्यर्थान्तरन्यासाद्याः ॥ ३६ ॥

एवं नानावचनरचनाचातुरीमेकतोऽस्या
निश्चैतन्याम्बुदमुखगिरा चान्यतो दूतकर्म ।
राजीमत्या व्यवसितमिति प्रेक्ष्य सख्यस्तदानीं
धिग्धिग्दैवं गतघृणमिति ध्यातवत्योऽभ्यधुस्ताम् ॥३७॥

'तदानीं' तस्मिन् प्रस्तावे सख्यस्तां 'अभ्यधुः' जल्पन्ति स्म, सख्यः किं कृतवत्यः ? 'गतघृणं' निर्दयं दैवं धिग्धिग् इति 'ध्यातवत्यः' पूर्वं ध्यातं याभिस्ताः, किं कृत्वा ? एकतः अस्याः राजीमत्याः 'एवं' अमुना प्रकारेण 'नानावचनरचनाचातुरीं' नानाप्रकारैः अलङ्कारव्यङ्ग्यरसावताररूपैः या वचनानां रचना तस्याश्चातुरीं चातुर्यं प्रेक्ष्य मनसा विचार्य, 'च' अन्यत् 'अन्यतः' अन्यस्मिन् पक्षे 'निश्चैतन्याम्बुदमुखगिरा' निश्चैतन्यो अचेतनो योऽम्बुदो मेघस्तस्य मुखगिरा मुखवचनेन 'इति' एवंप्रकारं विरहभावोद्दीपकसंदेशश्रेणिगर्भं दूतकर्म 'व्यवसितं' निश्चितं 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा, एतावता सख्यो राजीमत्यास्तत्तादृशं वचनचातुर्यमचेतनमेघमुखेन दूतकर्म चेति परस्परविरुद्धं प्रेक्ष्य हा ! निर्दयेन दैवेन राजीमत्याः कीदृशी अवस्थाऽऽपातितेति ध्यायन्त्यस्तां प्रति इति वक्ष्यमाणमजल्पन्नित्यर्थः । अत्र चतुरस्य भावः कर्म वा चातुरी "युवादेरण्" (सि० ७-१-१६७) अण्प्रत्ययः । अत्रानुप्रासविषमजात्याद्याः ॥ ३७ ॥

क्वासौ नेमिर्विषयविमुखस्तत्सुखेच्छुः क्व वा त्वं
क्वासंज्ञोऽब्दः क्व पटुवचनैर्वाचिकं वाचनीयम् ।
किं कस्याग्रे कथयसि सखि ! प्राज्ञचूडामणेर्वा
नो दोषस्ते प्रकृतिविकृतेर्मोह एवात्र मूलम् ॥ ३८ ॥

हे सखि ! असौ नेमिः क्व ?, किंरूपो नेमिः ? 'विषयविमुखः' विषयेषु विमुखः पराङ्मुखः, वा इति अन्वाचये, त्वं क्व ?, कथंभूता त्वम् ? 'तत्सुखेच्छुः' तद् विषयसुखमिच्छतीति तत्सुखेच्छुः, अतो द्वयोरपि युवयोर्विपरीतस्वरूपयोः कः संबन्धः ? । 'असंज्ञः' अचेतनः 'अब्दः' मेघः क्व ?, 'वाचिकं' संदेशवाक्यं क्व ?, अनयोरपि सम्बन्धाभावः, किंभूतं वाचिकम् ? 'पटुवचनैर्वाचनीयं' पटूनि पटिष्ठानि वचनानि येषामेवंविधैः पुरुषैर्वाचनीयं कथनीयम् । हे सखि ! कस्याग्रे किं कथयसि ?, एतावता दक्षाऽपि सती त्वं

निरर्थकं जल्पसीति । पुनरपि सख्य एव तत्समर्थनमाहुः—'वा' अथवा 'ते' तव नो दोषः, कथंभूतायास्ते ? 'प्राज्ञचूडामणेः' प्राज्ञानां दक्षाणां चूडामणेः शिरोमणेः । 'अत्र' त्वदधिकारे 'प्रकृतिविकृतेः' स्वभावपरावर्तस्य मोह एव मूलम्, अतो मोहस्यैव दोषः । अत्र विषमार्थान्तरन्यासानुप्रासाः ॥ ३८ ॥

श्रीमान्नेमिर्व्यजयत महामोहमल्लं तदेष
त्वां तत्पत्नीं सखि ! मनुमहे बाधते बद्धवैरः ।
किं त्वेवं ते यदुकुलमणेर्वीरपत्न्या विसोढुं
नैतन्न्याय्यं तदिममधुना बोधशस्त्रेण हिन्द्धि ॥ ३९ ॥

श्रीमान्नेमिर्महामोहमल्लं 'व्यजयत' जितवान्, हे सखि ! वयमिति 'मनुमहे' जानीमः 'तत्' तस्मात्कारणात् 'एषः' महामोहमल्लः 'तत्पत्नीं' तस्य नेमिनः पत्नीं त्वां 'बाधते' पीडयति, किंरूप एषः ? 'बद्धवैरः' संलग्नविरोधः, अयमर्थः—श्रीनेमिना मोहमहामल्लो जितः, स तस्य पीडां कर्तुं न प्रभवति अतस्तद्वैरं वालयितुं तत्पत्नीं बाधत इति । 'किन्तु' पुनः 'एवं' अमुना प्रकारेण 'ते' तव वीरपत्न्या 'एतत्' तस्य पीडनं 'विसोढुं' मर्षितुं 'न न्याय्यं' न युक्तम्, किंरूपायास्ते ? 'यदुकुलमणेः' यदुकुलस्य मणेः रत्नरूपायाः । 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वमधुना 'इमं' महामोहमल्लं 'बोधशस्त्रेण' प्रतिबोधायुधेन 'हिन्द्धि' व्यापादय, त्वमपि वीरपत्नी वर्तसे अतः शत्रुपराभवस्तवापि सोढुं न युक्तः, ततः प्रतिबोधं हृदि निधाय महामोहस्त्यज्यतामित्यर्थः । व्यजयतेति "परावेर्जेः" (सि० ३–३–२८) इत्यात्मनेपदम् । हिन्द्धीति "हिंसु तृहप् हिंसायाम्" हिंस्, पञ्चमी हि, "उदितः स्वरान्नोन्तः" (सि० ४–४–९८) "रुधां स्वराच्छ्नो न लुक् च" (सि० ३–४–८२) श्नप्रत्ययः, न, पूर्वनलोपः, "श्नास्त्योर्लुक्" (सि० ४–२–९०) श्नस्याकारलोपः, "हुधुटो हेर्धिः" (सि० ४–२–८३) हिं धिः "लवर्णतवर्गलसा

दन्त्याः" इति न्यायात् "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" (सि० १-३-४९) स् त्, ततः संयोगः, "न्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते" (सि० १-३-३९) तन इति सिद्धम् । अत्रानुमानाक्षेपोदात्तरूपकाद्याः ॥ ३९॥

रागाम्भोधौ ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिर्यः
संप्लाव्येत प्रतनुगरिमा स क्षमाभृद्गणोऽन्यः ।
औन्नत्यं तत्तदचलगुरुश्चैष माध्यस्थ्यमीशो
धत्ते येन स्फुटवसुममुं स्प्रष्टुमप्यक्षमास्ताः ॥ ४० ॥

हे सखि ! स 'क्षमाभृद्गणः' क्षमाभृतां ऋषीणां गणः समूहोऽन्यः यो 'रागाम्भोधौ' रागसमुद्रे 'ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिः संप्लाव्येत' ललिताः सुकोमला ललनानां स्त्रीणां याश्चाटुरूपा वाचस्ता एव भङ्गयः कल्लोलास्तैः (ताभिः) सं सामस्त्येन प्लाव्येत स क्षमाभृद्गणोऽन्यः परः, किंरूपः ? 'प्रतनुगरिमा' प्रतनुः तुच्छः गरिमा गुरुत्वं यस्य सः, एतावता यः साधुगणः स्त्रीणां चाटुवचनैर्भिद्यते स तुच्छधर्मस्थैर्यादिगुणगौरववान्, अयं नेमिस्तन्मध्ये न भवतीत्यर्थः । अथ सख्योऽन्यतुच्छसाधुविलक्षणं भगवतः स्वरूपमाहुः—'च' अन्यत् एषः 'ईशः' स्वामी ततः सर्वलोकप्रसिद्धं 'औन्नत्यं' परमध्यानधैर्यादिगुणोच्छ्रितत्वं तत् 'माध्यस्थ्यं' च रागद्वेपरहितत्वं धत्ते। किंरूपो भगवान् ? 'अचलगुरुः' अचला ये ब्रह्मव्रतादिपालने धीरास्तेषां गुरुः । 'येन' औन्नत्येन माध्यस्थ्येन च 'ताः' ललितललनाचाटुवाग्भङ्गयः 'अमुं' भगवन्तं स्प्रष्टुमपि 'अक्षमाः' असमर्थाः, एतावता ताभिर्भेदनमस्य दूरेऽस्तु ताः स्त्रीचाटुवाचो मनस्यपि नायान्तीत्यर्थः । किंविशिष्टममुम् ? 'स्फुटवसुं' स्फुटतेजसम् । अथ द्वितीयः श्लिष्टोऽर्थः—यः क्षमाभृतां पर्वतानां गणः समूहः समुद्रकल्लोलैराप्लाव्यते आव्रियते स प्रतनुगरिमा तुच्छोन्नतत्वः अन्यः, यस्य शिखरोपरि कल्लोला वहित्वा यान्ति सोऽन्य इतरः, एष भगवान् 'अचलगुरुः, अचलानां पर्वतानां गुरुः मेरुः,

ततो यथा मेरुः उन्नतत्वं उच्चैस्तरत्वं तच्च माध्यस्थ्यं जगन्मध्यस्थत्वं धत्ते, 'येन' औन्नत्येन माध्यस्थ्येन च ते समुद्रकल्लोलाः 'अमुं' मेरुं स्प्रष्टुमपि 'अक्षमाः' असमर्थाः, कल्लोला उत्कृष्टतोऽपि समभूतलात् षोडश(योजन)सहस्रोच्चाः मेरुस्तु लक्षयोजनोच्चः, वीचयस्तु जगतीपार्श्ववर्तिनः, मेरुस्तु लोकमध्यस्थः, अतस्ता आसन्ना अपि भवितुं न क्षमन्ते इत्यर्थः । मेरुपक्षे स्फुटानि प्रकटानि वसूनि रत्नानि यत्रासौ स्फुटवसुस्तम् । अत्र श्लेषसमासोक्तिरूपकातिशयोक्त्युदात्तानुप्रासाः ॥ ४० ॥

मा विश्वस्या मतिमति! वरप्राक्पदां वर्णिनीं तां
रागोत्सृष्टानुपलशकलान् रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य ।
चूर्णो नाम्ना स खलु भगवानेष जात्यं तु वज्रं
नो रागाङ्गैरविकलबलै रज्यते जातु कैश्चित् ॥ ४१ ॥

'हे मतिमति' ! मतिः बुद्धिर्विद्यते यस्याः सा मतिमती तस्याः संबोधनं हे मतिमति ! हे बुद्धिशालिनि ! त्वं तां 'वरप्राक्पदां वर्णिनीं' वर इति प्राक् पूर्वं पदं यस्याः सा ताम्, एतावता वरवर्णिनीं हरिद्रां 'रागोत्सृष्टान्' रागरहितान् 'उपलशकलान्' पाषाणखण्डान् रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य 'मा विश्वस्याः' विश्वासं मा कृथाः, कोऽर्थः ? सख्यः कथयन्त्यः सन्ति—हे राजीमति ! तव मनस्येवं भविष्यति, यथाऽन्याऽपि वरवर्णिनी रागरहितान् पाषाणखण्डान् रञ्जयति तथाऽहमपि वरवर्णिनी वर्ते, वरा प्रधाना वर्णिनी स्त्री अतो नीरागमपि नेमिनं रञ्जयिष्यामीति विश्वासं मा कृथाः । कुतः ? तत्कारणमाहुः—'खलु' निश्चितं 'सः' उपलशकलः पाषाणखण्डो नाम्ना चूर्णः यः पूर्वमपि चूर्णं (र्णः) तस्य किं नाम बलम् ? न किञ्चिदित्यर्थः, 'तु' पुनरेष भगवान् जात्यं 'वज्रं' निष्कृत्रिमहीरकः, अतः कैश्चित् 'रागाङ्गैः' रागभावैः 'जातु' कदाचित् नो 'रज्यते' रागवान् क्रियते, किंरूपै रागाङ्गैः ? 'अविकलबलैः' अविकलं संपूर्णं

बलं येषां तानि तैः, एतावताऽसौ सर्वत्रोक्तिरचितैरपि हावभावस्निग्धवचनादिरागप्रकारै रञ्जयितुं नैव शक्यत इत्यर्थः । यथाऽन्योऽपि हीरकः परपाषाणखण्डवत् रागाङ्गैर्हरिद्रादिभिः प्रचुरैरपि रञ्जयितुं न शक्यते । अत्र श्लेषसमासोक्तिउपमारूपकानुप्रासाद्याः ॥ ४१ ॥

सध्रीचीनां वचनरचनामेवमाकर्ण्य साऽथो
पत्युर्ध्यानादवहितमतिस्तन्मयत्वं तथाऽऽपत् ।
सङ्ख्याताहैरधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा
तस्माद्भेजेऽनुपमिति यथा शाश्वतीं सौख्यलक्ष्मीम् ॥४२॥

'अथो' अनन्तरं सा 'सध्रीचीनां' सखीनां एवं वचनरचनाम् 'आकर्ण्य' श्रुत्वा तथा तन्मयत्वं 'आपत्' प्राप्ता । किंरूपा सा? पत्युः ध्यानात् 'अवहितमतिः' अवहिता सावधाना मतिर्यस्याः साऽवहितमतिः । एतावता पिण्डार्थः—राजीमती सखीनां वचनं श्रुत्वा शोकं त्यक्त्वा प्रभोः केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां स्वामिपार्श्वे व्रतं गृहीत्वा तथा स्वामिनो ध्यानात् 'तन्मयत्वं' स्वामिमयत्वम्, एतावता यथा स्वामी रागद्वेषरहितस्तथा रागद्वेषरहितत्वमापत्, सर्वोऽपि क्रमः परिणामे फलेन श्लाघ्यते, अतः सर्वोत्कृष्टस्य तन्मयत्वस्य फलमाह—'सङ्ख्या०' इति 'यथा' येन प्रकारेण 'तस्मात्' तन्मयत्वात् 'अनुपमिति' उपमानस्याभावो यथा भवति तथा 'शाश्वतीं' अविनश्वरां सौख्यलक्ष्मीं भेजे, किंविशिष्टा सा? 'सङ्ख्याताहैः' गणितदिनैः 'अधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा' अधिगतं प्राप्तं महानन्दः परमानन्दस्तस्य सर्वस्वं सर्वसमृद्धिस्तस्य सद्म स्थानं मोक्षाभिधानं यया साऽधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा, अयमर्थः—राजीमती चारित्रं प्रतिपालयन्ती एकं वर्षं छद्मस्थपर्यायं स्थित्वा रागद्वेषमयानि घातिकर्माणि क्षपयित्वा केवलज्ञानं प्राप्य पञ्च वर्षशतानि केवलिपर्याये विहृत्य मुक्तिपदं प्राप्ता सती शाश्वतसौख्यं भजते स्म । अत्र सङ्ख्याताहैरिति सङ्ख्यातानि अहानि सङ्ख्याताहास्तैः "सङ्ख्यातादहश्च वा"

(सि० ७–३–११७) अट्प्रत्ययः, "नोऽपदस्य तद्धिते" (सि० ७–४–६१) अन्लोपः । अधिगतेति "ताभ्यां वाप् डित्" (सि० २–४–१५) डाप्प्रत्ययः । उपमितेः उपमानस्याभावोऽनुपमितीति "विभक्तिसमीप०" (सि० ३–१–३९) इति अव्ययीभावः समासः । अत्र शाश्वतसौख्यलक्ष्मीरूपकार्यस्य तन्मयत्वकारणयोगेन सुकरत्वात्समाधिरलङ्कारोऽतिशयोक्त्यनुप्राससङ्कराश्च ॥४२॥

इत्याचार्यश्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूतमहाकाव्यटीकायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः । तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं टीका ॥

[अथ प्रशस्तिः]

तथा च—

सर्वव्याकरणप्रमाणपटवो न्यायस्फुरत्फक्किका-
निष्णाता गुरवोऽभवन्न तु कृतिस्तेषां हि मिथ्या भवेत् ।
एष प्रत्यय एव मेऽस्ति सुचिरं तेषां पदाब्जद्वयी-
सेवातो बहुलप्रयोगरचनास्पष्टोपयोगस्पृशाम् ॥ १ ॥

अन्येषां मतिमूढतापहृतये व्याख्यामधीतां मुखात्
तेषामेव तथा विचार्य विबुधैः सार्धं प्रयत्नेन च ।
स्पष्टार्था लिखिता व्यधीयत परावर्तः प्रयोगेषु यत्
क्वापि क्वापि तदस्तु मा गुरुवचश्चर्चाव्यलीकं मम ॥ २ ॥

व्याख्याऽलेखि मया मृषाऽत्र खलु या शोध्यैव सा सद्बुधै-
र्व्यङ्ग्यानि प्रकटीकृतान्यनुपदं गूढानि नो यान्यपि ।
ज्ञेयानि स्वयमेव तान्यनलसैः स्पष्टं परेषामपि
ज्ञाप्यानि प्रकटोपकारकृतये प्राप्तावतारैर्भुवि ॥ ३ ॥

वर्षे चन्द्रनिधानपूर्वकलिते १४९१ श्रीविक्रमार्कात्तथा
चैत्रान्तर्वदिपञ्चमीबुधदिने श्रेष्ठाऽनुराधायुते ।
श्रीजैनोज्वल**मेघदूत**सुबृहत्काव्यस्य पूर्णाऽभवत्
टीका श्री**अणहिल्लपाटक** इति ख्याते क्षितौ **पत्तने** ॥४॥

पूज्यश्रीगुरु**मेरुतुङ्ग**गणभृद्धुर्यैर्व्रतं लम्भितः
श्रीमच्छ्री**जयकीर्त्ति**सूरिगुरुभिस्तत्पट्टलब्धोदयैः ।
वात्सल्यात्परिपाठितश्च कृतवान् श्रीकाव्यटीकामिमा-
माचार्यः किल **शीलरत्न** उदितां स्वाल्पिष्ठबुद्धेर्मिताम् ॥५॥

एतस्याः किल वृत्तेः, श्रीमन्**माणिक्यसुन्दरा**चार्याः ।
विदधुः शोधनमवहित-मतयो बहुसमयतत्त्वज्ञाः ॥ ६ ॥

भारतीय ज्ञानपीठ ग्रन्थागार काशी

यह पुस्तक नीचे अंकित तिथिको पुस्तकालयसे ली गई थी।
पन्द्रह दिनके अन्दर वापस आजानी चाहिये।